मूल्य: ₹50 मार्च–अप्रैल 2026 आई. एस. ओ. 9001: 2015 संगठन

वैज्ञानिक बागवानी की लोकप्रिय पत्रिका

फल फूल

भाकृअनुप ICAR

बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ

इस अंक में

- स्वास्थ्य समृद्धि हेतु आंवला
- मेंथा की वैज्ञानिक खेती
- एवोकाडो की अपार संभावनाएं
- औषधीय सब्जियों का बढ़ता महत्व

औषधीय पादप विशेषांक

प्रत्यक्ष उपभोक्ता संपर्क के माध्यम से अंजीर उत्पादकों का उत्थान

भारतीय कृषि में किसानों की आय बढ़ाने के लिए मूल्य संवर्धन, प्रसंस्करण और प्रत्यक्ष विपणन की भूमिका लगातार महत्वपूर्ण होती जा रही है। विशेष रूप से फलोत्पादन क्षेत्र में, जहां उत्पाद जल्दी खराब होने की आशंका रहती है, वहां संगठित विपणन व्यवस्था किसानों के लिए स्थिर आय सुनिश्चित कर सकती है। महाराष्ट्र के पुणे जिले के प्रगतिशील किसान उद्यमी श्री समीर मोहनराव डोम्बे ने अंजीर की खेती, प्रसंस्करण और ब्रांडिंग को जोड़कर एक ऐसा सफल मॉडल विकसित किया है, जिसने किसानों की आय बढ़ाने के साथ-साथ ग्रामीण रोजगार सृजन में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

पुणे जिले के खोर (तालुका दौड़) के निवासी श्री डोम्बे पिछले लगभग 12 वर्षों से अंजीर की खेती और उससे जुड़े उद्यम में सक्रिय हैं। उन्होंने वर्ष 2013 में अंजीर की खेती शुरू की और धीरे-धीरे इसे एक संगठित किसान-आधारित व्यावसायिक मॉडल में विकसित किया। इन्होंने स्थानीय किसानों को अंजीर की खेती के लिए प्रेरित किया और तकनीकी मार्गदर्शन प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप लगभग 350 किसानों ने अंजीर की खेती अपनाई।

उत्पादन बढ़ने के साथ विपणन की चुनौती सामने आई। इस समस्या के समाधान के लिए श्री डोम्बे ने अंजीर प्रसंस्करण और ब्रांडिंग पर आधारित एक स्टार्टअप शुरू किया। इस पहल का उद्देश्य किसानों के उत्पाद को सीधे उपभोक्ताओं तक पहुंचाना था। इन्होंने मूल्यवर्धित अंजीर उत्पाद तैयार किए और आकर्षक ब्रांडेड पैकेजिंग के साथ बाजार में प्रस्तुत किए।

इस पहल का एक महत्वपूर्ण पहलू उत्पाद विविधीकरण है। ताजे अंजीर के साथ-साथ अंजीर आधारित विभिन्न मूल्यवर्धित उत्पाद और सब्जियों का विपणन भी इस मॉडल से जोड़ा गया। इससे किसानों की आय के स्रोतों में विविधता आई और बाजार में स्थिरता बनी रही।

इस नवाचार का आर्थिक और सामाजिक प्रभाव उल्लेखनीय रहा है। इसके माध्यम से लगभग 350 किसानों को बेहतर खेती और विपणन तकनीकों में प्रशिक्षण मिला। वहीं कृषि आदानों की सामूहिक खरीद व्यवस्था के कारण खेती की लागत में लगभग 10-12 प्रतिशत तक कमी आई। वर्ष 2024-25 में किसान समूह का कुल कारोबार लगभग 8 करोड़ रुपये तक पहुंच गया, जो इस मॉडल की सफलता को दर्शाता है।

प्रसंस्करण से ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार

ग्रामीण रोजगार सृजन में भी यह पहल महत्वपूर्ण रही है। इसके माध्यम से 123 लोगों को रोजगार मिला, जिनमें 58 पुरुष और 65 महिलाएं शामिल हैं। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में आजीविका के नए अवसर बने और महिलाओं की आर्थिक भागीदारी बढ़ी। इसके साथ ही किसानों को गुणवत्तापूर्ण कृषि आदानों की उपलब्धता और बेहतर बाजार जानकारी भी प्राप्त हुई।

यह मॉडल महाराष्ट्र और गुजरात जैसे राज्यों के विभिन्न कृषि-जलवायु क्षेत्रों में आसानी से अपनाया जा सकता है। विशेष फलदार फसलों के लिए मूल्य संवर्धन और प्रत्यक्ष विपणन का यह तरीका किसानों की आय बढ़ाने के साथ-साथ कृषि-आधारित उद्यमिता को भी बढ़ावा देता है।

विशेष

इस नवाचार की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता प्रत्यक्ष विपणन रणनीति रही। शुरुआती चरण में श्री डोम्बे ने स्वयं स्टार बाजार से संपर्क स्थापित किया और इस शर्त पर उत्पाद उपलब्ध करवाए कि भुगतान बिक्री के बाद प्राप्त होगा। यह प्रयास सफल रहा और उपभोक्ताओं के बीच अंजीर उत्पादों की मांग बढ़ने लगी। बाद में उनके उत्पाद अमेजन, बिग बास्केट, जेप्टो, रिलायंस फ्रेश, स्टार बाजार और किसान कनेक्ट जैसे प्रमुख खुदरा और ई-कॉमर्स प्लेटफार्मों तक पहुंच गए। इससे किसानों और उपभोक्ताओं के बीच सीधा संपर्क स्थापित हुआ और बिचौलियों पर निर्भरता कम हुई।

अंजीर एवं मूल्यवर्धित उत्पाद

प्रशिक्षण से सशक्त बनती ग्रामीण महिलाएं

श्री समीर मोहनराव डोम्बे की यह पहल इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण है कि उत्पादन के साथ-साथ प्रसंस्करण, ब्रांडिंग और विपणन को अपनाकर कृषि को अधिक लाभकारी और टिकाऊ बनाया जा सकता है। यह मॉडल "किसान से उपभोक्ता" तक सीधे संपर्क स्थापित करने की दिशा में एक प्रेरणादायक प्रयास है।

(स्रोत: विकसित कृषि संकल्प अभियान संकलन)

भाकृअनुप
ICAR

फल फूल

वैज्ञानिक बागवानी की लोकप्रिय द्विमासिकी

वर्ष: 47, अंक: 2, मार्च-अप्रैल 2026

संपादन सलाहकार समिति

1. **डॉ. संजय कुमार सिंह** — **अध्यक्ष**
   उपमहानिदेशक (बागवानी विज्ञान)
   भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद
2. **डॉ. अनुराधा अग्रवाल** — **सदस्य**
   परियोजना निदेशक (कृज्ञाप्रनि)
   भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद
3. **डॉ. टी दामोदरन** — **सदस्य**
   निदेशक
   भाकृअनुप-केंद्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ
4. **डॉ. जगदीश राणे** — **सदस्य**
   निदेशक
   भाकृअनुप-केंद्रीय शुष्क बागवानी संस्थान, बीकानेर, राजस्थान
5. **डॉ. मारकंडे सिंह** — **सदस्य**
   विभागाध्यक्ष
   पुष्प विज्ञान विभाग, भाकृअनुप-भाकृअनुसं, नई दिल्ली
6. **प्रो. राजेश्वर सिंह चंदेल** — **सदस्य**
   कुलपति
   डॉ. वाई एस परमार बागवानी एवं वानिकी विश्वविद्यालय, नौणी, हिमाचल प्रदेश
7. **श्री शरद पांडे** — **सदस्य**
   कृषि पत्रकार
8. **श्री कंवल सिंह चौहान** — **सदस्य**
   प्रगतिशील किसान
9. **सुश्री सुनीता अरोड़ा** — **सदस्य सचिव**
   संपादक, हिंदी संपादकीय एकक (कृज्ञाप्रनि)
   भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद

प्रधान संपादक
डा. अनुराधा अग्रवाल

संपादक
सुनीता अरोड़ा

संपादन सहयोग
गजेन्द्र

प्रभारी (उत्पादन एकक)
पुनीत भसीन

प्रभारी (व्यवसाय एकक)
भूपेन्द्र दत्त

दूरभाष: 011-25843657
E-mail: businessuniticar@gmail.com
भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद
कृषि अनुसंधान भवन, पूसा गेट, नई दिल्ली-12
एक प्रति: रु. 50.00 वार्षिक : रु. 250.00
विशेषांक : रु. 200.00
E-mail : phalphul@gmail.com

डिस्क्लेमर

लेखों में व्यक्त विचारों, जानकारियों, आंकड़ों आदि के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं। उनसे भाकृअनुप की सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका में प्रकाशित लेखों तथा अन्य सामग्री का कॉपीराइट अधिकार भाकृअनुप-डीकेएमए के पास सुरक्षित है। इन्हें पुन: प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक की अनुमति अनिवार्य है। रसायनों-कीटनाशकों की डोज संबंधित संस्तुतियों का प्रयोग विशेषज्ञों से परामर्श के बाद करें। समस्त विवादों के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

विषय सूची

विदेशक की कलम से

भारत में औषधीय पौधे: परंपरागत ज्ञान से आधुनिक विकास तक
– **अनुराधा अग्रवाल**

विधि — 4
मेंथा की वैज्ञानिक खेती
बृजेश कुमार, मगन सिंह, संजीव कुमार **और** संदीप कुमार

बहुउपयोगी — 7
रतनजोत का प्राकृतिक खेती में प्रभावी योगदान
दीपक हरि रानडे, मनोज कुरील, सुनील अर्सिया **और** स्मिता अग्रवाल

मूल्यवान — 9
शुष्क शीतोष्ण क्षेत्रों की संजीवनी सी-बकथॉर्न
दुर्गा प्रसाद भंडारी, इंद्र देव, प्रमोद कुमार **और** अरूण नेगी

महत्व — 12
स्वास्थ्य समृद्धि हेतु उपयोगी आँवला
देवेन्द्र पाण्डेय, शारदुल्या शुक्ला, शिव पूजन, संजय कुमार सिंह **और** आश्चर्य पाण्डेय

गुणकारी — 15
बहुमूल्य औषधीय फल घिंगारू
मंदीप रावत **और** महेश कुमार समोटा

स्वास्थ्यवर्धक — 17
एवोकाडो उत्पादन की अपार संभावनाएँ
शिवम, पी. अन्बलगनं, पावुलुरी यशस्विनी, दुष्यंत कुमार राघव **और** विमल कुमार सी

अनूठा — 20
गुणों से भरपूर खाद्य पादप-पेहटा
शेफालिका आम्रपाली

पोषण — 23
गौण पत्तेदार औषधीय सब्जियों का बढ़ता महत्व
स्वाती साहा **और** अनिल खार

अल्प दोहित — 26
बेहद उपयोगी फल है आर्टोकार्पस लकूचा
मीनाक्षी ठाकुर **और** प्रीति चौधरी

मिठास — 28
एप्पल बेर का लाभकारी उत्पादन
पी. सी. चौरसिया, नवनीत राणा, अनुराग **और** ओकेश चंद्राकर

लाभकारी — 32
चिरौंजी उत्पादन की संभावनाएं
ए. के. श्रीवास्तव, पंकज कुमार ओझा, सिद्धार्थ कुमार **और** प्रज्ञा ओझा

विषय सूची

34

सुपरफूड

अलसी के बहुआयामी मूल्यवर्धित उत्पाद

अंजलि वर्मा, पी. के. मिश्रा **और** प्रेम शंकर

37

नवीन

हिमालयी स्वदेशी सब्जी-तरड़ी का उत्पादन

निखिल ठाकुर, जसदीप कौर **और** दीपा शर्मा

39

धरोहर

जम्मू-कश्मीर के पहाड़ी क्षेत्रों में उपयोगी-गुच्छी मशरूम

सचिन गुप्ता, हेमा त्रिपाठी, मोनी गुप्ता **और** मेघा अबरोल

42

व्यावसायिक

ग्लैडियोलस की उन्नत खेती

साक्षी संतोष व्यास, सुनिता **और** अनिल के. सिंह

जानकारी 45

मार्च-अप्रैल के मुख्य बागवानी कार्य

हरे कृष्ण, अरविंद कुमार सिंह, मंजूनाथ गौड़ा, शुभम कुमार तिवारी **और** शशि शेखर

आवरण-II

नवाचार

प्रत्यक्ष उपभोक्ता संपर्क के माध्यम से अंजीर उत्पादकों का उत्थान

आवरण-III

सार-समाचार

- **बहुउपयोगी औषधीय लता है गिलोय**
- **आलू से बनी पर्यावरण अनुकूल थैलियां**

निदेशक की कलम से

भारत में औषधीय पौधे : परंपरागत ज्ञान से आधुनिक विकास तक

भारत विश्व में 17 जैवविविधता देशों में शामिल है। अनुमानत: यहां 7500 से अधिक औषधीय पौधों की प्रजातियां पाई जाती हैं। इनमें से लगभग 1500 का उपयोग संगठित चिकित्सा पद्धतियों में किया जाता है। हिमालयी क्षेत्र, पश्चिमी घाट, पूर्वोत्तर भारत और मध्य भारत के वन क्षेत्र औषधीय पौधे के प्रमुख केंद्र हैं। तुलसी, लौंग, कालीमिर्च, अश्वगंधा, गिलोय, नीम, सर्पगंधा, आंवला, अर्जुन की छाल, मेंथा, हल्दी, कलौंजी, रतनजोत और एलोवेरा आदि पौधे न केवल घरेलू उपचार में, बल्कि वैश्विक हर्बल उद्योग में भी अपनी पहचान बना चुके हैं।

औषधीय पौधे भारत की वह विरासत हैं, जो स्वास्थ्य, आजीविका और पर्यावरण तीनों को जोड़ती है। भारत प्राचीन काल से औषधीय पौधों की भूमि रहा है। आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी और लोक चिकित्सा पद्धतियों में इन पौधों की भूमिका केंद्रीय रही है। आज, जब दुनिया बढ़ती जीवनशैली बीमारियां और मंहगी स्वास्थ्य सेवाओं से जूझ रही है, ये औषधीय पौधे सतत, सुलभ और प्राकृतिक स्वास्थ्य समाधान के रूप में उभर रहे हैं। ऐसे में औषधीय पौधों का सरंक्षण, संर्वधन और वैज्ञानिक उपयोग ने केवल स्वास्थ्य बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था और जैवविविधता के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है।

दुनिया भर में आजकल इम्युनिटी-बूस्टर और प्राकृतिक उपचारों की मांग में तेज वृद्धि हुई है। आयुष आधारित दवाओं और उत्पादों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नई स्वीकृति मिली है। औषधीय पौधे न केवल रोग उपचार में सहायक है बल्कि स्वस्थ रहने के लिए भी उपयोगी हैं।

औषधीय पौधों की खेती किसानों के लिए उच्च मूल्य और कम लागत का विकल्प है। पारंपरिक फसलों की तुलना में इन पौधों में जल और रासायनिक उर्वरकों की कम आवश्यकता होती है। इसके साथ ही अनुबंध खेती और फार्मा कंपनियों से सीधा जुड़ाव किसानों को सुनिश्चित बाजार प्रदान करता है। राष्ट्रीय औषधीय पादप बोर्ड द्वारा विभिन्न योजनाओं के तहत किसानों को प्रशिक्षण, सब्सिडी और विपणन सहायता दी जाती है। इसके अलावा 'वन डिस्ट्रिक, वन प्रोडक्ट' आयुष ग्रिड और स्टार्टअप इंडिया जैसी पहलें इस क्षेत्र को मजबूती दे रही हैं।

विश्व हर्बल बाजार का आकार तेजी से बढ़ रहा है। भारत के पास औषधीय पादपों और आयुष उत्पादों के निर्यात में अग्रणी बनने की अपार संभावनाएं हैं। आयुष मंत्रालय और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से भारतीय औषधीय ज्ञान को वैश्विक मंच मिला है। यदि मानकीकरण, गुणवत्ता नियंत्रण और शोध पर पर्याप्त ध्यान दिया जाये, तो यह क्षेत्र विदेशी मुद्रा अर्जन का बड़ा स्रोत बन सकता है।

भारत में औषधीय पौधों का घरेलू बाजार लगभग 20.25 हजार करोड़ रुपये का आंका जाता है, जबकि वैश्विक हर्बल बाजार तेजी से 1 ट्रिलियन डॉलर की ओर बढ़ रहा है। भारत की इस वैश्विक बाजार में अभी कम हिस्सेदारी है। जबकि जैव विविधता और पारंपरिक ज्ञान के मामले में इसकी स्थिति कहीं अधिक मजबूत है। कोविड-19 के बाद इम्युनिटी बढ़ाने वाले पौधों की मांग में अभूतपूर्ण उछाल आया, जिससे हर्बल उद्योग को नई गति मिली।

भारत को औषधीय पौधों का वैश्विक भंडार कहा जाता है। औषधीय पौधे सुरक्षित, सुलभ और टिकाऊ स्वास्थ्य विकल्प के रूप में उभरे हैं। भारत में औषधीय पौधों का बाजार एक 'हर्बल हरित आर्थिक क्रांति' की क्षमता रखता है। समय की मांग है कि इस क्षेत्र को केवल वैकल्पिक नहीं, बल्कि मुख्यधारा की कृषि और उद्योग नीति का हिस्सा बनाया जाए।

अनुराधा

(अनुराधा अग्रवाल)

विधि

मेंथा की वैज्ञानिक खेती

बृजेश कुमार, मगन सिंह, संजीव कुमार और **संदीप कुमार**

मेंथा (मेंथा अर्वेन्सिस) लैमियासी परिवार का एक महत्वपूर्ण औषधीय पौधा है। इसकी खेती भारत के अलावा अन्य देशों में भी की जाती है। मेंथा के प्रमुख उत्पादक देश भारत, चीन, संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्राजील हैं। भारत में मेंथा की खेती उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, पंजाब, पश्चिम बंगाल, जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड में की जाती है। मेंथा तेल व्यावसायिक रूप से अत्यंत मूल्यवान है। इसका उपयोग अनेक उद्योगों में किया जाता है, विशेषकर औषधि उद्योग में, जैसे तेल, मलहम, बाम, क्रीम/जैल, कफ सिरप, लोशन, अस्थमा की दवाइयाँ, अवसाद, थकान तथा वजन घटाने से संबंधित औषधियाँ आदि। इसके अतिरिक्त, मेंथा तेल का उपयोग फ्लेवरिंग एजेंट तथा सुगंध सामग्री के रूप में भी किया जाता है, जैसे इत्र, सौंदर्य प्रसाधन, साबुन, जलीय क्रीम आदि। मेंथा तेल का प्रयोग स्वाद बढ़ाने वाले एजेंट के रूप में भी किया जाता है, जैसे टूथपेस्ट, च्युइंग गम, डेंटल क्रीम, माउथवॉश तथा विभिन्न पेय आदि उत्पादों में। अनुकूल जलवायु एवं उन्नत कृषि तकनीकों के उपयोग से मेंथा की उच्च उपज प्राप्त की जा सकती है। उचित समय पर कटाई तथा वैज्ञानिक विधि से तेल निष्कर्षण करने पर उत्पादन एवं गुणवत्ता में प्रभावी वृद्धि होती है।

भारत वर्तमान में मेंथा तेल का अग्रणी उत्पादक, उपभोक्ता तथा निर्यातक है। अनुकूल कृषि-जलवायु परिस्थितियों एवं अनेक उन्नत किस्मों की उपलब्धता के कारण भारत 80 प्रतिशत से अधिक वैश्विक हिस्सेदारी के साथ विश्व बाजार में शीर्ष स्थान पर है।

कृत्रिम मेंथा तेल की कीमत अधिक होने के कारण राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय बाजार में इसकी उपलब्धता में कमी दर्ज की गई है, जिससे प्राकृतिक मेंथा तेल की मांग बढ़ी है। यह स्थिति किसानों के लिए लाभकारी है, क्योंकि मेंथा की खेती से वे अच्छा मुनाफा कमा सकते हैं। मेंथा की खेती से किसानों को औसतन 50-60 कि.ग्रा. प्रति एकड़ की दर से मेंथा तेल की प्राप्ति होती है।

सस्य विज्ञान अनुभाग, भाकृअनुप-राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल-132001, हरियाणा

जलवायु

मेंथा की खेती उष्णकटिबंधीय एवं उपोष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में की जा सकती है। हालांकि, यह अत्यधिक कम तापमान को सहन नहीं कर पाता, क्योंकि निम्न तापमान की स्थिति में इसकी जड़ें सड़ने लगती हैं। मेंथा की खेती के लिए 20–25° से. तापमान उपयुक्त माना जाता है, क्योंकि इस तापमान पर पौधों की वानस्पतिक वृद्धि अच्छी होती है। वहीं, 30° से. के अपेक्षाकृत अधिक तापमान पर मेन्थॉल तेल की मात्रा में वृद्धि होती है।

पेपरमिंट और स्पीयरमिंट की खेती उष्णकटिबंधीय एवं उपोष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में लाभकारी रूप से नहीं की जा सकती, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ अत्यधिक गर्मी (तापमान लगभग 41° से.) होती है। इन प्रजातियों की अच्छी उपज मुख्यत: आर्द्र एवं समशीतोष्ण परिस्थितियों में प्राप्त होती है, जैसे कश्मीर तथा उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड और हिमाचल प्रदेश के कुछ क्षेत्र आदि।

फसल अवधि के दौरान मौसम का अनुकूल रहना पौधों की समुचित वृद्धि एवं विकास के लिए आवश्यक है। बर्गमोट मिंट की खेती समशीतोष्ण तथा उपोष्णकटिबंधीय दोनों क्षेत्रों में की जा सकती है, हालांकि समशीतोष्ण जलवायु में इसकी उपज अपेक्षाकृत अधिक होती है।

मृदा

अच्छी जल निकासी वाली दोमट या बलुई दोमट मृदा जिसमें कार्बनिक पदार्थ प्रचुर

वानस्पतिक विवरण

मेंथा के पौधे की लंबाई सामान्यत: 60-90 सें.मी. होती है, परंतु अनुकूल परिस्थितियों में इसकी ऊँचाई 1.0 मीटर से अधिक भी हो सकती है। इसका तना आमतौर पर हरे से लाल-बैंगनी रंग का तथा चिकना होता है। इसकी पत्तियाँ छोटी, 2.5-5 सें.मी. लंबी, तिरछी-अंडाकार, दाँतेदार तथा हरे रंग की होती हैं, जबकि कुछ प्रजातियों में ये लाल-बैंगनी रंग की भी पाई जाती हैं। इसके फूल बैंगनी-गुलाबी रंग के होते हैं, जो सामान्यत: गर्मियों के महीनों में दिखाई देते हैं। मेंथा पौधे में भूमि के ऊपर तथा नीचे दोनों ओर बढ़ने वाली शाखाएँ (तने) होती हैं तथा भूमिगत जड़ों के माध्यम से इसका प्रसार होता है।

सारणी 1: मेंथा की विभिन्न प्रजातियां

विवरण	प्रजातियां
जापानी मिंट	शिवालिक, एमएएस-1,गोमती, कोसी, कालका (हाइब्रिड 77), ईसी 41911 संभव, सक्षम और क्रान्ति
पेपरमिंट	कुकरेल, प्रांजल और तुषार
स्पीयरमिंट	एमएसएस-1, एमईएसएस-5, पंजाब स्पीयरमिंट, अर्का, नीरकालका और गंगा
बर्गमोट मिंट	किरन

मात्रा में हों, जिनका पीएच मान 6 से 8.2 के बीच हो, इसकी खेती के लिए सही रूप से उपयुक्त है। इसकी खेती लाल और काली दोनों मृदा में की जा सकती है। 5.5 से कम पीएच वाली अम्लीय मृदा में, चूना लगाने की सिफारिश की जाती है। अच्छी क्यारी प्राप्त करने के लिए दो या तीन जुताई और उसके बाद पाटा करना आवश्यक है। खेत पराली और खरपतवार से मुक्त होना चाहिए।

बीज दर

मेंथा का प्रवर्धन मुख्यत: जड़ों की कटिंग के माध्यम से किया जाता है। जापानी मिंट एवं बर्गमोट मिंट के मामले में स्टोलन का भी उपयोग किया जाता है। अच्छी तरह स्थापित मेंथा की एक हैक्टर फसल से औसतन दस हैक्टर क्षेत्र के लिए पर्याप्त रोपण सामग्री प्राप्त हो जाती है। एक हैक्टर भूमि में रोपण के लिए लगभग 400 कि.ग्रा. जड़ों की आवश्यकता होती है। जड़ों की कटिंग करने का सबसे उपयुक्त समय दिसंबर एवं जनवरी के महीने होते हैं।

बुआई का समय

मेंथा की बुआई का सर्वोत्तम समय जनवरी के मध्य से जनवरी के अंत तक माना जाता है। हालांकि, मेंथा की कुछ प्रजातियों की बुआई जनवरी के अंत से फरवरी के मध्य तक भी की जा सकती है। फसल को अप्रैल में रोपाई के माध्यम से भी उगाया जा सकता है।

मेंथा का स्वस्थ उत्पादन

बुआई की विधि

जड़ों के टुकड़ों को 4-5 सें.मी. गहराई पर 45 सें.मी. की दूरी पर लगाया जाता है तथा ऊपर से हल्की मिट्टी से ढक दिया जाता है। बेहतर उत्पादन एवं जल संरक्षण के लिए बुआई 67.5 सें.मी. चौड़ी पंक्तियों में करनी चाहिए। सकर्स के प्रसार हेतु 60 सें.मी. की दूरी पर मेड़ बनाना उपयुक्त रहता है। बुआई के बाद हल्की सिंचाई अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि यह अंकुरण के लिए लाभकारी होती है।

फसल चक्र

फसल चक्र खरपतवार वृद्धि पर उचित नियंत्रण बनाए रखने में मदद करता है। फसल चक्र मृदा की उर्वराशक्ति और भूमि से अधिक उपज प्राप्त करने में सहायता करता है।

उर्वरक प्रबंधन

खेत की तैयारी के समय 25-30 क्विंटल/हैक्टर गोबर की खाद अवश्य डालनी चाहिए। सामान्यत: मेंथा की अच्छी फसल के लिए नाइट्रोजन 80-120 कि.ग्रा./हैक्टर, फॉस्फोरस 50 कि.ग्रा./हैक्टर तथा पोटाश 40 कि.ग्रा./हैक्टर की आवश्यकता होती है। हालांकि, जापानी मिंट की बेहतर वृद्धि के लिए नाइट्रोजन की मात्रा 160 कि.ग्रा./हैक्टर तक तथा पेपरमिंट के लिए 125 कि.ग्रा./हैक्टर तक दी जा सकती है।

सारणी 2: उत्तर प्रदेश, पंजाब और हरियाणा हेतु उपयोगी फसल चक्र उर्वरक

क्र. स.	फसल चक्र	क्र. स.	फसल चक्र
1.	मेंथा-मक्का-आलू	5.	आलू या पुदीना-धान
2.	मेंथा-शुरुआती धान और आलू	6.	मेंथा-गेहूं-धान
3.	मेंथा-देर से धान और मीठी मटर	7.	मेंथा-ग्रीष्मकालीन परती या बाजरा (चारा)
4.	मेंथा-मक्का और रेपसीड/सरसों	8.	अगेती धान-आलू-मेंथा

नाइट्रोजन को तीन या चार भागों में विभाजित करना चाहिए। नाइट्रोजन की आधी मात्रा तथा फॉस्फोरस और पोटाश की पूरी मात्रा बुआई के समय देनी चाहिए। शेष नाइट्रोजन को 25-30 दिनों के अंतराल पर टॉप ड्रेसिंग के रूप में देना उपयुक्त रहता है। अच्छी उपज एवं तेल की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए मेंथा की फसल में सल्फर, आयरन तथा जिंक का भी प्रयोग करना चाहिए। जिंक का प्रयोग 20-25 कि.ग्रा./हैक्टर की दर से किया जाना चाहिए।

मेंथा के प्रमुख प्रकार

- **जापानी मिंट:** भारत में जापानी मिंट (मेंथा अर्वेन्सिस) लगभग 50,000 हैक्टर क्षेत्र में उगाया जाता है। इसकी खेती मुख्यत: उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा और बिहार में की जाती है। जापानी मिंट मेंथा तेल का प्रमुख स्रोत है। ताजी पत्तियों में तेल की मात्रा 0.4-0.6 प्रतिशत होती है। इसके तेल के मुख्य घटक मेन्थॉल (65-75%), मेन्थोन (7-10%), मेन्थाइल एसीटेट (12-15%) तथा टरपीन यौगिक जैसे पाइनीन, लिमोनेन और कैम्फीन होते हैं।
- **पेपरमिंट:** पेपरमिंट (मेंथा पिपरिटा) तेल के घटक जापानी मिंट के तेल के लगभग समान होते हैं। इसके पौधों में 0.4-0.6 प्रतिशत तक तेल पाया जाता है, किंतु इसमें मेन्थॉल की मात्रा अपेक्षाकृत कम (50-55%) होती है, जो जापानी मिंट की तुलना में कम है। पेपरमिंट की खेती उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में की जाती है।
- **बर्गमोट मिंट:** बर्गमोट मिंट (मेंथा साइट्रेटा) अत्यंत सुगंधित प्रजाति है। इसके तेल के मुख्य घटक लिनालूल और लिनालिल एसीटेट होते हैं। इसके तेल का उपयोग मुख्यत: इत्र निर्माण में किया जाता है, साथ ही सौंदर्य प्रसाधनों जैसे सुगंध, साबुन, आफ्टर-शेव लोशन और कोलोन में भी किया जाता है।
- **स्पीयरमिंट:** स्पीयरमिंट तेल (मेंथा स्पिकाटा) का प्रमुख घटक कार्वोन (लगभग 65%) होता है, जबकि अन्य घटकों में फेलैंड्रीन, लिमोनेन, एल-पिनीन और सिनियोल शामिल हैं। इसके तेल का उपयोग मुख्यत: टूथपेस्ट, अचार, मसालों, च्युइंगम, कन्फेक्शनरी, साबुन तथा सॉस में स्वाद बढ़ाने के लिए किया जाता है।

मेंथा तेल निष्कर्षण

मेंथा का तेल भाप आसवन विधि द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया में ताजा अथवा अर्ध-सूखे हर्ब को एक टैंक में भरकर दबावयुक्त भाप से उपचारित किया जाता है। टैंक से निकलने वाली भाप, जो जड़ी-बूटियों से निकाले गए तेल को अपने साथ लेकर चलती है, को कंडेनसर से होकर गुजारा जाता है। कंडेनसर को उसके ऊपर अथवा चारों ओर ठंडे पानी का सतत प्रवाह बनाए रखकर ठंडा किया जाता है, जिससे भाप संघनित होकर द्रव में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार प्राप्त तेल-पानी का मिश्रण एक रिसीवर में एकत्र होता है। चूँकि तेल और पानी का घनत्व अलग-अलग होता है, इसलिए तेल पानी की सतह पर तैरने लगता है, जिसे अलग कर एकत्र कर लिया जाता है। तेल को पूर्ण रूप से निकालने के लिए भाप आसवन की कुल अवधि लगभग 2-2.5 घंटे होती है। लगभग एक घंटे में ही लगभग 80 प्रतिशत तेल रिसीवर में प्राप्त हो जाता है, जबकि बाद में प्राप्त होने वाला तेल मेन्थॉल की मात्रा में अधिक समृद्ध होता है। प्राप्त मेंथा तेल सामान्यत: सुनहरे पीले रंग का होता है, जिसमें कम से कम 75 प्रतिशत मेन्थॉल पाया जाता है।

सारणी 3: मेंथा फसल में प्रमुख कीटों का प्रबंधन

कीट	समस्या	प्रबंधन
दीमक	दीमक पौधे के भूमिगत भागों पर आक्रमण करती है तथा मेंथा की जड़ों और तनों को नुकसान पहुंचाती हैं।	• फसल चक्र अपनाना चाहिए। • दीमक की सुंडियों को एकत्र कर नष्ट करना चाहिए।
कटवर्म	कटवर्म युवा पौधों को भूमि की सतह के पास से काट देते हैं। ये दिन के समय पौधों के आधार के पास मिट्टी में छिपे रहते हैं।	• मोनोक्रोटोफॉस 0.05% या मिथाइल पैराथियान 0.05% का छिड़काव करना चाहिए।
सफेद मक्खी	इन चूसने वाले कीटों के आक्रमण से पौधे की वृद्धि और तेल सामग्री पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।	
बालों वाली सुंडी	बालों वाली सुंडी फसल पर एक साथ आक्रमण करती है। जो आर्थिक रूप से फसल को बहुत ज्यादा क्षति पहुंचाती है।	

सिंचाई

मेंथा की फसल में पहली सिंचाई बुआई के तुरंत बाद करनी चाहिए। इस फसल को बार-बार लेकिन हल्की सिंचाई की आवश्यकता होती है। मार्च के अंत तक 10-12 दिनों के अंतराल पर, मानसून की शुरुआत तक 6-7 दिनों के अंतराल पर तथा वर्षा ऋतु में आवश्यकता के अनुसार सिंचाई करनी चाहिए।

खरपतवार नियंत्रण

खरपतवार मेंथा की फसल में पौधों की बढ़वार तथा तेल उत्पादन दोनों को प्रभावित करते हैं। फसल की प्रारंभिक अवस्था में एक या दो बार हाथ से खरपतवार निकालना लाभकारी रहता है। अंकुरण से पूर्व 1 कि.ग्रा. पेंडिमेथिलीन को 100-200 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, 30-35 दिनों बाद 2.5 कि.ग्रा. डेलापन या ग्रामोक्सोन का प्रयोग पंक्तियों के बीच समान रूप से करके खरपतवारों को नियंत्रित किया जा सकता है।

सारणी 4: मेंथा फसल में विभिन्न रोगों का प्रबंधन

रोग	समस्या	प्रबंधन
जड़ सड़न और तना सड़न	संक्रमित भागों पर प्रारंभ में भूरे रंग के घाव दिखाई देते हैं, जो बाद में काले होकर आकार में बढ़ जाते हैं। पत्तियाँ मुरझाकर सूख जाती हैं। संक्रमित पौधों को उखाड़कर नष्ट कर देना चाहिए तथा संक्रमित खेत से रोपण सामग्री नहीं लेनी चाहिए। वर्ष दर वर्ष एक ही खेत में मेंथा की खेती करने से बचना चाहिए।	• बुआई के लिए रोगमुक्त जड़ों का प्रयोग करें। • संक्रमित पौधों को उखाड़कर नष्ट कर दें। • एक ही खेत में लगातार मेंथा की खेती से बचें। • गर्मियों में गहरी जुताई करें। • नियंत्रण हेतु 0.2% कैराथेन, 0.05% मैंकोजेब या 0.1-0.2% सल्फर का छिड़काव करें।
पौधो का सुखना (म्लानि रोग)	पौधों में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ दिखाई देने लगती हैं, जैसे पत्तियों का मुरझाना, बढ़वार में कमी तथा अंतत: पौधों का सूख जाना।	
चूर्णिल आसिता	इस रोग में प्रारंभ में पत्तियों पर छोटे-छोटे धब्बे बनते हैं, जो धीरे-धीरे बड़े हो जाते हैं। रोग का प्रमुख लक्षण पौधों की सतह पर सफेद चूर्ण या कवक का जमाव होना है।	

खरपतवार नियंत्रण

खरपतवार मेंथा की फसल में पौधों की बढ़वार तथा तेल उत्पादन दोनों को प्रभावित करते हैं। फसल की प्रारंभिक अवस्था में एक या दो बार हाथ से खरपतवार निकालना लाभकारी रहता है। अंकुरण से पूर्व 1 कि.ग्रा. पेंडिमेथिलीन को 100-200 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, 30-35 दिनों बाद 2.5 कि.ग्रा. डेलापन या ग्रामोक्सोन का प्रयोग पंक्तियों के बीच समान रूप से करके खरपतवारों को नियंत्रित किया जा सकता है।

फसल कटाई का समय

जापानी मिंट की कटाई सामान्यत: बुआई के 100-120 दिनों बाद की जाती है, जब पत्तियाँ हल्की पीली दिखाई देने लगती हैं। यदि कटाई में विलंब हो जाए तो पत्तियाँ झड़ने लगती हैं, जिससे पत्तियों में उपस्थित तेल की मात्रा में कमी आ जाती है। कटाई सदैव तेज धूप वाले मौसम में करनी चाहिए। फसल के हरे भाग को भूमि की सतह से 2-3 सें.मी. ऊपर दरांती की सहायता से काटना चाहिए।

दूसरी कटाई पहली कटाई के लगभग 80 दिनों बाद तथा यदि तीसरी कटाई लेनी हो तो दूसरी कटाई के लगभग 80 दिनों बाद करनी चाहिए। पेपरमिंट, स्पीयरमिंट तथा बर्गमोट मिंट, जो समशीतोष्ण जलवायु में उगाए जाते हैं, उनकी पहली कटाई जून के अंत में तथा दूसरी कटाई सितंबर अथवा अक्टूबर में की जाती है।

उपज

यदि मेंथा से लगभग 48 टन हरा भाग प्रति हैक्टर प्राप्त होता है, तो उससे औसतन 200-250 कि.ग्रा./हैक्टर मेंथा तेल की प्राप्ति होती है। विभिन्न प्रकार की मेंथा प्रजातियों में तेल की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है, जिसके कारण कुल तेल उत्पादन में अंतर पाया जाता है। उदाहरण के लिए, जापानी मिंट में तेल की मात्रा 0.5-0.6 प्रतिशत, पेपरमिंट में 0.4-0.6 प्रतिशत तथा स्पीयरमिंट में लगभग 0.57 प्रतिशत पाई जाती है।

रतनजोत का प्राकृतिक खेती में प्रभावी योगदान

दीपक हरि रानडे, मनोज कुरील, सुनील अर्सिया और **स्मिता अग्रवाल**

वर्तमान समय में कृषि प्रणाली गंभीर चुनौतियों के दौर से गुजर रही है। रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के अत्यधिक उपयोग से न केवल उत्पादन लागत बढ़ी है, बल्कि मृदा की उर्वरता, पर्यावरणीय संतुलन और मानव स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। ऐसे परिदृश्य में टिकाऊ, कम लागत और पर्यावरण अनुकूल कृषि विकल्पों की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक महसूस की जा रही है। इसी संदर्भ में रतनजोत जैसा बहुउद्देशीय पौधा किसानों और कृषि वैज्ञानिकों के लिए एक आशाजनक समाधान के रूप में उभरकर सामने आया है। यह पौधा एक ओर प्राकृतिक बाड़बंदी, मृदा संरक्षण और हरित आवरण को बढ़ावा देता है, वहीं दूसरी ओर इसके बीजों से प्राप्त तेल वैकल्पिक ऊर्जा स्रोत के रूप में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। खंडवा कृषि महाविद्यालय परिसर में लगाए गए रतनजोत के पौधे न केवल हरियाली बढ़ा रहे हैं, बल्कि शिक्षा, अनुसंधान और व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए एक जीवंत मॉडल भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

रतनजोत के पौधे काँटेदार और घने होते हैं, जो इन्हें खेतों और बागों की सीमा पर लगाने के लिए उपयुक्त बनाते हैं। महाविद्यालय परिसर में ये पौधे खुले क्षेत्रों और प्रयोगात्मक खेतों के किनारों पर लगे हुए हैं, जिनका उपयोग मवेशियों और जंगली पशुओं को फसल क्षेत्र से दूर रखने में, भूमि की स्पष्ट सीमा निर्धारित करने में, महंगे लोहे या तार की बाड़ के किफायती विकल्प के रूप में किया जा सकता है। इस तरह यह पौधा किसानों को कम लागत में दीर्घकालिक सुरक्षा प्रदान करने का साधन बन सकता है।

भगवंत राव मंडलोई कृषि महाविद्यालय, राजमाता विजयाराजे सिंधिया कृषि विश्वविद्यालय, खंडवा-450001

रतनजोत के तेल का उपयोग

रतनजोत के बीजों से प्राप्त तेल ग्रामीण क्षेत्रों में वैकल्पिक ईंधन के रूप में उपयोग किया जा सकता है। यह तेल चूल्हों, डीजल पंपों, जनरेटरों और छोटे कृषि यंत्रों को चलाने में सक्षम है। स्थानीय स्तर पर उपलब्ध होने के कारण यह न केवल सस्ता है, बल्कि पर्यावरण अनुकूल भी है। बीजों की बिक्री या तेल निष्कर्षण के माध्यम से किसानों को अतिरिक्त आय का स्रोत प्राप्त हो सकता है, जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूती मिलती है।

मृदा संरक्षण

मृदा संरक्षण की दृष्टि से भी रतनजोत का विशेष महत्व है। इसकी गहरी और मजबूत जड़ें मृदा को बाँधकर रखती हैं तथा वर्षा के समय मृदा कटाव को रोकने में सहायक होती हैं। यह पौधा कम उर्वर या परती भूमि पर भी अच्छी तरह उग सकता है, जिससे अनुपजाऊ भूमि का पुनर्वास संभव हो पाता है और पर्यावरणीय संतुलन को बढ़ावा मिलता है।

कृषि शिक्षा और प्रशिक्षण में योगदान

महाविद्यालय परिसर में रतनजोत की उपस्थिति छात्रों और किसानों के लिए एक जीवंत शिक्षण माध्यम है, जहाँ प्राकृतिक बाड़बंदी, वैकल्पिक ऊर्जा, मृदा संरक्षण और सतत कृषि के सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप में समझा जा सकता है। इस प्रकार रतनजोत किसानों के लिए बहुआयामी लाभ प्रदान करने वाला पौधा है, जो ग्रामीण स्वावलंबन,

औषधीय महत्व

रतनजोत में औषधीय गुण भी पाए जाते हैं, जिनका उपयोग पारंपरिक चिकित्सा में लंबे समय से किया जा रहा है। इसके तेल, पत्तों और अर्क में एंटीसेप्टिक, एंटी इंफ्लेमेटरी और एंटीमाइक्रोबियल गुण पाए जाते हैं। इसके तेल का बाहरी प्रयोग घाव, फोड़े-फुंसियों और त्वचा संक्रमण में किया जा सकता है, क्योंकि यह बैक्टीरिया और फंगस की वृद्धि को रोकने में सहायक है। इसके पत्तों और लेटेक्स का लेप सूजन कम करने और घाव जल्दी भरने में पारंपरिक रूप से इस्तेमाल किया जाता है। रतनजोत के तेल का उपयोग पशुओं की त्वचा पर कीट और परजीवियों से बचाव के लिए किया जा सकता है। हालाँकि, इसका आंतरिक सेवन विषैला हो सकता है, इसलिए इसका औषधीय उपयोग केवल बाहरी और नियंत्रित रूप में किया जाना चाहिए।

रतनजोत के परिपक्व फल

प्राकृतिक खेती और टिकाऊ कृषि प्रणाली को मजबूत आधार दे सकता है।

किसानों के लिए उपयोगी

रतनजोत से प्राप्त लाभ केवल खेत की सुरक्षा और ईंधन तक सीमित नहीं हैं। यह पौधा ग्रामीण स्वावलंबन को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है, कृषि में बाहरी संसाधनों पर निर्भरता को कम कर सकता है तथा प्राकृतिक खेती और जैविक पद्धतियों के प्रचार में सहायक सिद्ध हो सकता है।

रतनजोत एक बहुआयामी प्रजाति है, जिसकी उपयोगिता कृषि, ऊर्जा और पर्यावरण तीनों क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इसके बीजों से प्राप्त तेल का उपयोग नवीकरणीय ईंधन के रूप में किया जा सकता है, जबकि इसकी गहरी और मजबूत जड़ें मृदा संरचना को स्थिरता प्रदान कर मृदा के कटाव को रोकने में सहायक होती हैं।

महाविद्यालय परिसर में रतनजोत की उपस्थिति न केवल छात्रों को व्यावहारिक कृषि विज्ञान की शिक्षा प्रदान करती है, बल्कि सतत कृषि प्रणाली के एक प्रभावी और जीवंत मॉडल का भी प्रदर्शन करती है। ऐसे पौधों के माध्यम से किसानों को कम लागत, टिकाऊ और वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित समाधान उपलब्ध कराना आज की आवश्यकता है, जिससे कृषि को अधिक आत्मनिर्भर और पर्यावरण अनुकूल बनाया जा सके। ■

कृषि और पर्यावरण के लिए उपयोगी

निवेदन

लेखक बंधु *फल फूल* पत्रिका के लिए अपने लेख और संबंधित फोटो, कवरिंग लैटर के साथ सिर्फ निम्न पोर्टल पर ही अपने मोबाइल नम्बर के साथ भेजें। ध्यान रखें कि फोटो मौलिक होने के साथ जेपीजे फॉर्मेट में और उच्च रेज्योल्यूशन की हों। लेख में अधिकतम 1200 शब्दों की संख्या रखने का प्रयास करें। इसके अतिरिक्त सुझाव और प्रतिक्रियाएं भी भेज सकते हैं। लेख भेजने के लिए कृपया कृतिदेव 010 टाइप फेस का प्रयोग करें।

हमारा पोर्टल है :
epatrika.icar.org.in

–संपादक

शुष्क शीतोष्ण क्षेत्रों की संजीवनी सी-बकथॉर्न

दुर्गा प्रसाद भंडारी[1], इंद्र देव[3], प्रमोद कुमार[2] और **अरूण नेगी[1]**

सी-बकथॉर्न (हिप्पोफे एसपी) को हिंदी में प्रचलित रूप से सी-बकथॉर्न ही कहा जाता है, किंतु इसे लेह बेरी या हिमालयी बेरी के नाम से भी जाना जाता है। हिमाचल प्रदेश में इसे स्थानीय रूप से छरमा कहा जाता है, जबकि इसे वंडर बेरी, लेह बेरी तथा लद्दाख गोल्ड जैसे नामों से भी संबोधित किया जाता है। सी-बकथॉर्न किन्नौर जिले की लगभग सभी पंचायतों में पाया जाता है। सांगला घाटी में यह मुख्यत: वृक्ष के रूप में विकसित होता है तथा इसकी लकड़ी का उपयोग सर्दियों में ईंधन के रूप में आग जलाने के लिए किया जाता है। इस पौधे के फलों (बेरी) से रस निकाला जाता है, जो पीले रंग का होता है। परंपरागत रूप से इस रस का उपयोग मनुष्यों और पशुओं द्वारा ग्रहण किए गए विष के प्रतिकार के रूप में सदियों से किया जाता रहा है। सर्दियों के मौसम में सूखी बेरी का उपयोग पाककला में टमाटर के विकल्प के रूप में किया जाता है, जबकि लेह-लद्दाख क्षेत्र में इससे हर्बल चाय भी तैयार की जाती है। अपने उत्कृष्ट पोषण गुणों और स्वास्थ्यवर्धक लाभों के कारण सी-बकथॉर्न की बेरी को 'वंडर बेरी' अथवा 'ठंडे रेगिस्तान की संजीवनी' के रूप में जाना जाता है।

सी-बकथॉर्न का फल पीले रंगद्रव्य से समृद्ध होता है, जिनमें प्रमुख घटक फ्लेवोनोइड्स तथा बी कैरोटीन होते हैं। सी-बकथॉर्न में विटामिन सी की मात्रा बहुत अधिक पाई जाती है, जो प्रति 100 ग्राम फल में 800-3909 मिलीग्राम तक होती है। यह मात्रा कीवी फल की तुलना में 2-10 गुना अधिक है। इसी कारण सी-बकथॉर्न को 'विटामिन सी का राजा' कहा जाता है।

सी-बकथॉर्न के फल में विटामिन ई, विटामिन बी$_1$, बी$_2$, बी$_6$ तथा विटामिन के की थोड़ी मात्रा भी पाई जाती है। यह फल सभी बेरी वर्ग के फलों में पोषक तत्वों की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध फलों में से एक है।

आकृति विज्ञान की दृष्टि से, सी-बकथॉर्न की बेरी में बीज (लगभग 23 %), गूदा (लगभग 68 %) तथा छिलका (लगभग 8 %) पाया जाता है। सी-बकथॉर्न के फल में कुल 18 प्रकार के ज्ञात अमीनो अम्ल पाए जाते हैं, जबकि इसके बीज में 13 अमीनो अम्ल तथा गूदे और रस में 18 अमीनो अम्ल उपस्थित होते हैं। इसमें 8 प्रकार के आवश्यक अमीनो अम्ल वैलिन, मेथियोनीन, थ्रेओनीन, ल्यूसीन, लाइसिन, आइसोल्यूसीन, ट्रिप्टोफैन तथा फेनिलएलनिन शामिल हैं, जो मानव शरीर की विभिन्न शारीरिक एवं जैविक प्रक्रियाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

ताजा बेरीज का जूस और उबाला हुआ जूस

वितरण और क्षेत्र

सी-बकथॉर्न एक महत्वपूर्ण हिमालयी फल है, जो अपने अनेक स्वास्थ्य लाभों के कारण व्यापक रूप से प्रसिद्ध है। यह हिमाचल प्रदेश, लद्दाख, उत्तराखंड, सिक्किम तथा अरुणाचल प्रदेश के ठंडे क्षेत्रों एवं शुष्क समशीतोष्ण परिस्थितियों में प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। सी-बकथॉर्न का फल अत्यंत पौष्टिक माना जाता है और इसे सबसे पोषक फलों में से एक के रूप में स्वीकार किया गया है।

[1]वैज्ञानिक, [2]सह-निदेशक और प्रमुख कृषि विज्ञान केंद्र, किन्नौर, 172107 हिमाचल प्रदेश
[3]निदेशक, प्रसार शिक्षा निदेशालय, डॉ. वाई एस परमार औद्यानिकी और वानिकी विश्वविद्यालय, नौणी, सोलन-173 220, हिमाचल प्रदेश

पोषण

सी-बकथॉर्न का फल आकार में छोटा होता है, किंतु यह विटामिन सी, विटामिन ई तथा ओमेगा फैटी एसिड से भरपूर होता है। इसमें सभी आवश्यक पॉलीअनसेचुरेटेड फैटी एसिड, विशेष रूप से ओमेगा-3 और ओमेगा-6, प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। सी-बकथॉर्न के फलों का उपयोग फल, रस, तेल अथवा आहार अनुपूरक (सप्लीमेंट) के रूप में किया जाता है। अपने चमकीले रंग एवं पोषण गुणों के कारण इसे 'सनशाइन फल' भी कहा जाता है।

गोलाकार पीले रंग के परिपक्व फल

हिमाचल प्रदेश में यह मुख्यत: लाहौल स्पीति तथा किन्नौर जिले के कुछ भागों जैसे निचार, सांगला, कल्पा और पूह में जंगली अवस्था में उगता है। लाहौल-स्पीति तथा किन्नौर क्षेत्र में सी-बकथॉर्न ईंधन और चारे का एक महत्वपूर्ण स्रोत भी है।

हिप्पोफे वंश की कुल सात प्रजातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से तीन प्रजातियाँ भारत में मूल रूप से उपलब्ध हैं हिप्पोफे रम्नोइड्स, हिप्पोफे सैलिसिफोलिया तथा हिप्पोफे टिबेटाना। यह पौधा सामान्यत: 1-8 मीटर ऊँचा होता है, किंतु अनुकूल परिस्थितियों में 18 मीटर तक भी बढ़ सकता है।

इसकी पत्तियों की ऊपरी सतह गहरे हरे रंग की तथा निचली सतह चाँदी-धूसर रंग की होती है। पत्तियाँ सामान्यत: 3-8 सें.मी. लंबी, भालाकार (लैंसोलेट) या रैखिक होती हैं तथा इनकी चौड़ाई 7 मि.मी. से कम होती है। फल 5-8 मि.मी. आकार के, गोलाकार अथवा चपटे होते हैं और गुच्छों में एक-दूसरे से चिपके रहते हैं। प्रारंभिक अवस्था में बेरी हल्के हरे रंग की होती हैं, जो अक्टूबर के अंत से नवंबर के मध्य तक पककर पीले या नारंगी रंग में परिवर्तित हो जाती हैं।

बेरी की त्वचा अत्यंत पतली एवं नाजुक होती है, जो हल्के दबाव में भी फट जाती है। इसी कारण रस निकालने के लिए बेरी को या तो पौधे पर ही या काटी गई शाखाओं पर हाथों से कुचलकर नीचे रखे बर्तनों में एकत्र किया जाता है।

टहनी पर लदे अधपके फल

जलवायु एवं मृदा

भारतीय महाद्वीप का ट्रांस-हिमालयी क्षेत्र विशेष रूप से लद्दाख एवं किन्नौर सी-बकथॉर्न की खेती के लिए एक विशिष्ट क्षेत्र माना जाता है, जहाँ अत्यधिक तापमान जैसी चरम जलवायु परिस्थितियाँ पाई जाती हैं। यह पौधा सर्दियों में 30° सेल्सियस से लेकर गर्मियों में 35° सेल्सियस तक के तापमान को सहन करने की क्षमता रखता है। इसकी जड़ प्रणाली अत्यंत व्यापक होती है तथा इसमें मिट्टी के कणों को बाँधने और नाइट्रोजन स्थिरीकरण में सहायता करने की विशेष क्षमता पाई जाती है।

इसी कारण सी-बकथॉर्न को मृदा क्षरण से बचाव तथा मृदा अपरदन को नियंत्रित करने के लिए सीमांत भूमि में उगाया जाता है। यह मिट्टी की सेहत में सुधार करता है तथा अन्य पौधों की सुचारू वृद्धि के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करता है। किन्नौर जिले में यह प्राय: नदियों के किनारे अथवा मिट्टी के कटाव वाले क्षेत्रों में पाया जाता है।

सी-बकथॉर्न को गहरी मिट्टी में, सुनिश्चित सिंचाई सुविधाओं तथा अच्छी जल निकासी व्यवस्था के साथ सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। इसकी जड़ प्रणाली गहरी होने के कारण इसे कठोर चट्टानों से मुक्त

समतल भूमि पर उगाना उपयुक्त माना जाता है।

पौध रोपण हेतु गड्ढे खोदने का सर्वाधिक उपयुक्त समय नवंबर से मार्च के बीच होता है। गड्ढों का व्यास लगभग 60 सें.मी. तथा गहराई 60-80 सें.मी. होनी चाहिए। गड्ढे भरने से पूर्व प्रति गड्ढा लगभग 2 कि.ग्रा. अच्छी तरह सड़ी हुई गोबर की खाद मिलाई जानी चाहिए।

वानस्पतिक रूप से प्रवर्धित सी-बकथॉर्न के पौधे रोपण के 3-4 वर्ष बाद ही फल देना प्रारंभ कर देते हैं, जबकि बीज से उगाए गए पौधों को फल देने में 5-8 वर्ष लग सकते हैं। किन्नौर में प्राकृतिक परिस्थितियों में उगने वाले पौधों से बेरी की तुड़ाई एक कठिन कार्य है, क्योंकि इनमें अनेक मजबूत कांटे होते हैं।

किन्नौर एवं लद्दाख की परिस्थितियों में पके फलों की उपज सामान्यत: 0.6–3.0 कि.ग्रा./पौधा पाई जाती है, क्योंकि पौधे जंगली अवस्था एवं प्राकृतिक परिस्थितियों में उगते हैं।

पॉलीथीन में एकत्रित सूखे हुए बेरीज

अनूठी छटा में सी-बकथॉर्न के वृक्ष

विदेशों से लाई गई कम कांटेदार, बड़े आकार के फल देने वाली तथा कम अवधि में फल देने वाली उन्नत प्रजातियों का मूल्यांकन हिमाचल प्रदेश की लाहौल घाटी के कुकुमसेरी क्षेत्र में किया जा रहा है।

प्रशिक्षण एवं छंटाई संबंधी ज्ञान के अभाव के कारण किन्नौर जिले में सी-बकथॉर्न के पौधों की छंटाई प्राय: नहीं की जाती है, जबकि लेह-लद्दाख क्षेत्र में छंटाई का कार्य पौधों के अंकुरण से पूर्व मार्च माह में किया जाता है। पौधे को वांछित आकार प्रदान करने तथा कटाई में सुविधा हेतु इसकी ऊँचाई 2 मीटर से कम तक सीमित रखना उपयुक्त माना जाता है।

सी-बकथॉर्न एक गैर-क्लाइमेक्टेरिक फल है, जो केवल पौधे पर ही पकता है और कटाई के बाद नहीं पकता। लद्दाख एवं लाहौल क्षेत्रों में फलों का पकना सामान्यत: अगस्त के मध्य से अंत तक प्रारंभ हो जाता है, जबकि किन्नौर जिले में फल नवंबर माह में पकते हैं।

किन्नौर क्षेत्र में स्थानीय लोग बेरी के रस को ताजा अवस्था में अथवा उबालकर जीवाणुरहित करने के बाद लंबे समय तक कांच की बोतलों में संग्रहीत करते हैं। वहीं लाहौल-स्पीति क्षेत्र में बेरी को धूप में सुखाकर पॉलीथीन बैग में पैक किया जाता है, जिसका उपयोग चाय बनाने के लिए किया जाता है। इस चाय की तैयारी हेतु सूखी बेरी की एक चुटकी को उबलते पानी में चीनी एवं टैक्सस के पत्तों के साथ मिलाकर परोसा जाता है।

पके फल पौधों की शाखाओं पर सर्दियों के दौरान भी अप्रैल माह तक बने रह सकते हैं, किंतु इन्हें लंबे समय तक भंडारित नहीं किया जा सकता। अत: फलों का समय पर प्रसंस्करण करना आवश्यक होता है।

पोषण से भरपूर

सी-बकथॉर्न का उपयोग लोक औषधि के रूप में व्यापक रूप से पेट, हृदय तथा त्वचा संबंधी रोगों के उपचार में किया जाता रहा है। सी-बकथॉर्न के फलों से प्राप्त रस, जैम तथा तेल में फेनोलिक यौगिक, विटामिन, खनिज, अमीनो अम्ल, फैटी अम्ल एवं फाइटोस्टेरॉल प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। ये जैव सक्रिय घटक सूजनरोधी, कैंसर रोधी तथा एंटीऑक्सीडेंट गुणों के कारण मानव स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध होते हैं। सी-बकथॉर्न के बीज के तेल के सेवन से भूख में वृद्धि होती है तथा गुर्दे और यकृत के कार्यों की बहाली में सहायता मिलती है, जिससे रोगियों के समग्र स्वास्थ्य को बनाए रखने में मदद मिलती है। इसके बीज के तेल में विटामिन विशेष रूप से विटामिन ए, विटामिन ई तथा बी कैरोटीन प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। कुछ अध्ययनों के अनुसार यह गर्भाशय ग्रीवा के कैंसर के विरुद्ध सुरक्षात्मक प्रभाव भी प्रदर्शित कर सकता है। यद्यपि सी-बकथॉर्न किन्नौर क्षेत्र में प्राकृतिक रूप से कई वर्षों से उगाया जा रहा है, तथापि व्यावसायिक फसल के रूप में यह अपेक्षाकृत नई है। इसी कारण इसकी खेती की वैज्ञानिक तकनीकों के संबंध में जानकारी अभी सीमित है। अत: सी-बकथॉर्न की खेती से जुड़े पोषण संबंधी लाभ, संरक्षण तकनीकें, प्रशिक्षण एवं छंटाई की विधियाँ, उपयुक्त किस्मों का चयन तथा मूल्यवर्धित उत्पादों के विकास के संबंध में किसानों को तकनीकी मार्गदर्शन एवं जागरूकता प्रदान करने की वर्तमान में अत्यंत आवश्यकता है।

नरेन्द्र आँवला - 6

नरेन्द्र आँवला - 7

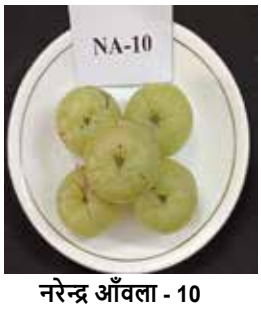

नरेन्द्र आँवला - 10

लक्ष्मी - 52

चकैया

कृष्णा

कंचन

सी. आई. एस. एच. आँवला - 1

सी. आई. एस. एच. आँवला - 2

स्वास्थ्य समृद्धि हेतु उपयोगी आँवला

देवेन्द्र पाण्डेय, शारदुल्या शुक्ला, शिव पूजन, संजय कुमार सिंह और **आश्चर्य पाण्डेय**

आँवला यूफोर्बिएसी कुल का एक महत्वपूर्ण देशज फल है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इसे विभिन्न नामों से जाना जाता है, जैसे-हिंदी में आँवला, संस्कृत में धात्री या अमलकी, बंगाली एवं उड़िया में आँवला या अमलकी, तमिल एवं मलयालम में नेल्ली, गुजराती में आँवला-आँवला, गुरुमुखी में अमोल फल, अरबी में आमलन, मराठी में आवलकाठी, तथा अंग्रेजी में एंब्लिक मायराबालन या इंडियन गूजबेरी। अपने अद्वितीय औषधीय एवं पोषक गुणों के कारण भारतीय पौराणिक साहित्य जैसे-वेद, स्कंदपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, रामायण, कादंबरी, चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता आदि में इसका उल्लेख मिलता है। महर्षि चरक ने इसे जीवनदात्री अथवा अमृतफल के समान लाभकारी माना है, अतः इसे अमृत फल या कल्पवृक्ष के नाम से भी जाना जाता है। अपने विशिष्ट गुणों, जैसे प्रति इकाई क्षेत्र में उच्च उत्पादकता, विभिन्न प्रकार की जलवायु एवं भूमि के प्रति अनुकूलता, पोषक एवं औषधीय गुणों से परिपूर्णता तथा खाद्य, प्रसाधन एवं आयुर्वेदिक उपयोग के कारण भारत में आँवले की लोकप्रियता तेजी से बढ़ रही है।

बदलते कृषि परिदृश्य में आँवला अपनी बहुआयामी उपयोगिता के कारण विशेष स्थान बना रहा है। पोषण, औषधि और उद्योग-तीनों क्षेत्रों में इसकी बढ़ती मांग ने इसे पारंपरिक फल से आगे बढ़ाकर एक व्यावसायिक बागवानी फसल के रूप में स्थापित कर दिया है।

बंजर भूमि हेतु उपयुक्तता: बंजर क्षेत्रों में, जहाँ मृदा का पी एच मान 6.5–9.5, विद्युत चालकता 8 dS/m तक तथा विनिमेय सोडियम प्रतिशत (ईएसपी) 40 तक हो, वहाँ भी आँवले की खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है। अतः ऐसे क्षेत्रों में आँवले की खेती करके अधिक लाभ कमाया जा सकता है।

केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, रहमानखेड़ा, काकोरी,लखनऊ-226101

प्रसंस्करण

आँवले के फलों के प्रसंस्करण एवं मूल्य संवर्धन में असीम संभावनाएँ हैं। आँवला-निर्मित पौष्टिक एवं स्वास्थ्यवर्धक उत्पादों, जैसे गूदा, जूस, स्क्वैश, आरटीएस पेय, मुरब्बा, शर्करा घोल, आँवले की फाँकें, कैंडी, चूर्ण एवं अचार आदिकी घरेलू एवं निर्यात बाजारों में मांग धीरे-धीरे बढ़ रही है। गुटखा का सेवन करने वाले व्यक्तियों के लिए आँवला सुपारी एवं पान एक स्वास्थ्यवर्धक विकल्प हो सकता है। आँवला कैंडी, शर्करा घोल एवं आँवले की फाँकों में मुरब्बे की तुलना में अधिक पोषक तत्व सुरक्षित रहते हैं। अतः इन उत्पादों को निर्यात हेतु प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, फलों के गिरने एवं भूमि में सड़ने से मृदा की दशा में भी सुधार होता है।

चर्म उद्योग में आँवला: आँवले के फलों, पत्तियों एवं छाल में टैनिन की अत्यधिक मात्रा पाई जाती है, जिसके कारण चर्म उद्योग में इसका विशेष महत्व है। यह उद्योग अत्यधिक निर्यातोन्मुखी है तथा इसमें जंगली एवं देसी आँवले का उपयोग अधिक किया जाता है।

सौंदर्य प्रसाधन उद्योग में आँवला: कई प्रकार की सौंदर्य प्रसाधन सामग्रियों में आँवला एक प्रमुख अवयव के रूप में प्रयोग किया जाता है। आँवला निर्मित शैंपू एवं तेल की बाजार में काफी मांग है। इस प्रकार के अन्य उत्पादों के विकास की आवश्यकता है, जो विदेशी बाजारों की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

आँवला से अतिरिक्त आय

आँवला गहरी जड़ों वाला, पर्णपाती एवं छितरी पत्तियों वाला वृक्ष है। अत: किसान आँवले के साथ सहफसली खेती अपनाकर अच्छी आय प्राप्त कर सकते हैं। फलों में अमरूद, करौंदा, सहजन एवं बेर; सब्जियों में लौकी, भिंडी, फूलगोभी, धनिया; फूलों में ग्लैडियोलस एवं गेंदा; तथा औषधीय एवं सुगंधित पौधों की सहफसल ली जा सकती है। इसके अतिरिक्त तुलसी, कालमेघ, शतावर, सर्पगंधा एवं अश्वगंधा की सहफसली खेती से भी अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। कुछ फसलें, जैसे धान, गेहूँ, गन्ना, आलू एवं बरसीम, जिनमें अधिक पानी एवं उर्वरकों की आवश्यकता होती है, आँवले के साथ सहफसल के रूप में अनुशंसित नहीं हैं।

सरल प्रवर्धन: पारंपरिक रूप से आँवले के पौधे बीज द्वारा अथवा भेट कलम द्वारा तैयार किए जाते थे। बीज द्वारा प्रवर्धन आसान एवं सस्ता होता है, परंतु पर परागण होने के कारण बीज से तैयार पौधे देर से फल देते हैं तथा उनके फल गुण एवं आकार में मातृ पौधों के समान नहीं होते।

उत्तर भारत में आँवले का व्यावसायिक प्रवर्धन मुख्यत: पैबंदी चश्मा या विस्थापित छल्ला विधि द्वारा किया जाता है। मई से सितंबर माह के दौरान चश्मा विधि से प्रवर्धन करने पर 60-90 प्रतिशत सफलता प्राप्त होती है। वहीं नियंत्रित दशाओं (पॉली/शेड नेट) में कोमल शाखा बंधन द्वारा वर्ष में 8-10 माह तक सफलतापूर्वक प्रवर्धन किया जा सकता है। अत: सरल प्रवर्धन तकनीकों द्वारा कम समय में अधिक पौधे तैयार कर उनकी आपूर्ति की जा सकती है।

किस्मों का चयन

आचार्य नरेंद्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, अयोध्या द्वारा विकसित नरेन्द्र आँवला-6, नरेन्द्र आँवला-7, नरेन्द्र आँवला-10, कृष्णा एवं कंचन प्रमुख किस्में हैं। आणंद कृषि विश्वविद्यालय, आणंद (गुजरात) द्वारा विकसित आनन्द-1 एवं आनन्द -2, तमिलनाडु कृषि विश्वविद्यालय द्वारा विकसित बीएसआर-1, केन्द्रीय शुष्क बागवानी संस्थान, बीकानेर के क्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र, गोधरा (गुजरात) द्वारा विकसित गोमा ऐश्वर्या, केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ द्वारा विकसित सीआईएसएच आँवला-1 एवं सीआईएसएच आँवला-2 तथा प्रतापगढ़ के कृषकों द्वारा चयनित लक्ष्मी-52 किस्में भी अत्यधिक उत्पादक पाई गई हैं।

सारणी 2: आँवला की प्रमुख किस्मों की विशेषताएं

किस्म	प्रमुख विशेषताएं
कंचन	यह किस्म औद्योगिक इकाइयों द्वारा गूदा निकालने एवं अन्य उत्पाद बनाने हेतु पसंद की जाती है। महाराष्ट्र एवं गुजरात के शुष्क एवं अर्ध-शुष्क क्षेत्रों हेतु उपयुक्त है।
कृष्णा	यह कम रेशायुक्त एवं जल्दी पकने वाली किस्म है। फल का आकार बड़ा होने के कारण कैंडी, मुरब्बा एवं जूस बनाने हेतु आदर्श किस्म है।
नरेन्द्र आँवला-6	यह किस्म मुरब्बा, कैंडी एवं जैम बनाने हेतु सर्वोत्तम पाई गई है।
नरेन्द्र आँवला-7	यह शीघ्र फल देने वाली एवं अधिक उपज देने वाली किस्म है। च्यवनप्राश, चटनी, जैम एवं स्क्वैश बनाने हेतु उपयुक्त है। इसे राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश एवं तमिलनाडु में सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।
नरेन्द्र आँवला-10	यह किस्म अधिक उत्पादन क्षमता, शीघ्र पकने की प्रवृत्ति तथा सुखाने एवं अचार बनाने की उपयुक्तता के कारण व्यवसायिक खेती हेतु उपयुक्त है।
लक्ष्मी-52	यह किस्म किसानों द्वारा फ्रांसिस के बीजू पौधों से चयनित की गई है। फलों का आकार बड़ा होता है। फल विकास की प्रारंभिक अवस्था में फलों पर हल्की गुलाबी लकीरें दिखाई देती हैं, जो पूर्ण विकास पर समाप्त हो जाती हैं। यह किस्म मुरब्बा एवं कैंडी बनाने हेतु उपयुक्त पाई गई है।
गोमा ऐश्वर्या	यह नरेन्द्र आँवला-7 के क्लोन से चयनित किस्म है, जो तीसरे वर्ष से फल देना प्रारंभ कर देती है। बौनी प्रवृत्ति के कारण सघन बागवानी हेतु उपयुक्त है तथा अपनी मूल किस्म नरेन्द्र आँवला-7 की तुलना में अधिक उपज देती है।
सी.आई.एस. एच-आँवला-1	इसका पौधा कम फैलाव वाला होता है तथा अधिक उत्पादन देता है। फल का आकार बड़ा होता है और फलों में विटामिन-सी की मात्रा अधिक पाई जाती है। फल गूदा एवं जूस निर्माण हेतु उपयुक्त हैं।
सी.आई.एस. एच-आँवला-2	इसका पौधा मध्यम फैलाव लिए होता है। फलों का आकार मध्यम तथा रंग गुलाबी होता है। फलों में विटामिन-सी की मात्रा अधिक होती है और यह गूदा एवं जूस निर्माण हेतु उपयुक्त है।

अधिक आय वाली फसल: आँवला एक अधिक आय देने वाली बागवानी फसल है। इसकी व्यावसायिक बागवानी से 15-20 टन प्रति हैक्टर उपज प्राप्त की जा सकती है, जिससे लगभग 40,000-2,00,000 रुपये प्रति हैक्टर तक की आय संभव है।

निर्यात की असीम संभावनाएँ: भारत में आँवले का उपयोग औषधि निर्माण, सौंदर्य प्रसाधन तथा संसाधित उत्पाद निर्माण इकाइयों में निरंतर बढ़ रहा है। आँवले का प्रतिदिन प्रात: सेवन करने से कुछ ही दिनों में शरीर में नई स्फूर्ति आती है तथा रोगों से लड़ने की क्षमता विकसित होती है।

ताजे फल उपलब्ध न होने की स्थिति में इसके सूखे चूर्ण को शहद के साथ मिलाकर सेवन किया जा सकता है। इन्हीं गुणों के कारण आँवले के निर्यात की असीम संभावनाएँ हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इसके गुणों का वैश्विक बाजार में व्यापक प्रचार-प्रसार किया जाए।

कृषि क्रियाएँ: आँवले की किस्मों में स्व-असंगतता पाई जाती है, अत: अधिक उत्पादन के लिए एक से अधिक किस्मों को एक साथ लगाना आवश्यक है। अधिक उपज प्राप्त करने हेतु एकांतर पंक्ति में दो किस्मों का रोपण करना चाहिए। इसके लिए नरेन्द्र आँवला-6 या नरेन्द्र आँवला-7 के साथ नरेन्द्र आँवला-10, कंचन या कृष्णा किस्में उपयुक्त पाई गई हैं।

नए रोपित पौधों का पाले से बचाव

आँवले के नए रोपित पौधे पाले के प्रति संवेदनशील होते हैं। अत: पाले से बचाव हेतु पौधों को फूस या सूखे घास-फूस से ढक देना चाहिए तथा पाला पड़ने की स्थिति में पौधों के थालों में पर्याप्त नमी बनाए रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक: सामान्यत: एक वर्ष पुराने पौधों में 5 कि.ग्रा. सड़ी गोबर की खाद के साथ 100 ग्राम नाइट्रोजन, 50 ग्राम फॉस्फोरस एवं 100 ग्राम पोटाश देना चाहिए। खाद एवं उर्वरकों की मात्रा को पौधों की आयु के साथ-साथ 10 वर्ष तक इसी अनुपात में बढ़ाते रहना चाहिए। इस प्रकार 10 वर्ष या उससे अधिक आयु के पौधों में 50 कि.ग्रा. गोबर की खाद, 1000 ग्राम नाइट्रोजन, 500 ग्राम फॉस्फोरस एवं 1000 ग्राम पोटेशियम देना चाहिए। गोबर की खाद की संपूर्ण मात्रा, नाइट्रोजन की आधी मात्रा तथा फास्फोरस एवं पोटाश की संपूर्ण मात्रा जनवरी-फरवरी में फूल आने से पहले तथा शेष नाइट्रोजन की आधी मात्रा जुलाई-अगस्त में देनी चाहिए।

सिंचाई: वर्षा एवं शरद ऋतु में सामान्यत: सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती, परंतु ग्रीष्म ऋतु में नए स्थापित बागों में 10-15 दिन के अंतराल पर सिंचाई आवश्यक होती है। सिंचाई हेतु खारे पानी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। फलधारी बागों में पहली सिंचाई खाद देने के तुरंत बाद जनवरी-फरवरी माह में करनी चाहिए। फूल आने की अवस्था में सिंचाई नहीं करनी चाहिए।

कीट एवं रोग प्रबंधन: आँवले में मुख्य रूप से छाल खाने वाला कीट, पत्ती खाने वाला कीट तथा शूट गॉल मेकर कीट का प्रकोप पाया जाता है। इनमें सबसे अधिक हानिकारक छाल खाने वाला कीट होता है। इसकी रोकथाम के लिए बागों में समय-समय पर पौध संरक्षण उपाय अपनाते रहना चाहिए। छाल खाने वाला कीट तने एवं शाखाओं में छेद बना देता है तथा बुरादे के रूप में चॉकलेट रंग की लीद बाहर निकालता है।

ऐसी अवस्था में छिद्र की सफाई कर उसमें बारीक तार डालकर कीट को नष्ट करना चाहिए। इसके बाद एक भाग मेटासिस्टॉक्स या एक भाग रोगार को दस भाग मिट्टी के तेल में मिलाकर तैयार मिश्रण में रुई भिगोकर छिद्र में भर देना चाहिए तथा छिद्र को चिकनी मिट्टी से बंद कर देना चाहिए।

पत्ती खाने वाले कीट की रोकथाम हेतु 0.03 प्रतिशत डाइमेक्रॉन का छिड़काव करना चाहिए। शूट गॉल मेकर की मादा मई माह में अंडे देकर चली जाती है। ऐसी स्थिति में 3 मि.ली. डाइमेक्रॉन या रोगार को 10 लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करने से अंडे एवं लार्वा नष्ट हो जाते हैं।

रोगों में काला धब्बा कवकजनित रोग है। इसकी रोकथाम हेतु डाइथेन जेड-78, डाइथेन एम-45 अथवा ब्लाइटॉक्स का 0.3 प्रतिशत घोल, अर्थात 3 ग्राम दवा प्रति 10 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करने से रोग नियंत्रित हो जाता है।

तुड़ाई उपरांत प्रबंधन: आँवले के फलों की तुड़ाई सामान्यत: हाथ से की जाती है, परंतु बड़े वृक्षों में बाँस से बनी सीढ़ियों की सहायता से तुड़ाई की जाती है। फलों की तुड़ाई प्राय: सुबह करनी चाहिए तथा उन्हें प्लास्टिक के क्रेट्स में रखना चाहिए। तुड़ाई के समय फलों को भूमि पर गिरने नहीं देना चाहिए, अन्यथा चोटिल फल पैकिंग एवं भंडारण के दौरान सड़कर अन्य स्वस्थ फलों को भी नुकसान पहुँचा सकते हैं।

आँवले के फल अम्लीय एवं कसैले होने के कारण ताजा रूप में तुरंत उपयोग हेतु उपयुक्त नहीं होते। आँवले में मौजूद पोषण एवं औषधीय गुणों के कारण इससे अनेक मूल्यवर्धित एवं प्रसंस्करित उत्पाद बनाए जा सकते हैं। आँवले के फलों को मुख्यत: खाद्य उत्पाद, स्वास्थ्य उत्पादों तथा सौंदर्य प्रसाधन उत्पादों के रूप में उपयोग किया जाता है।

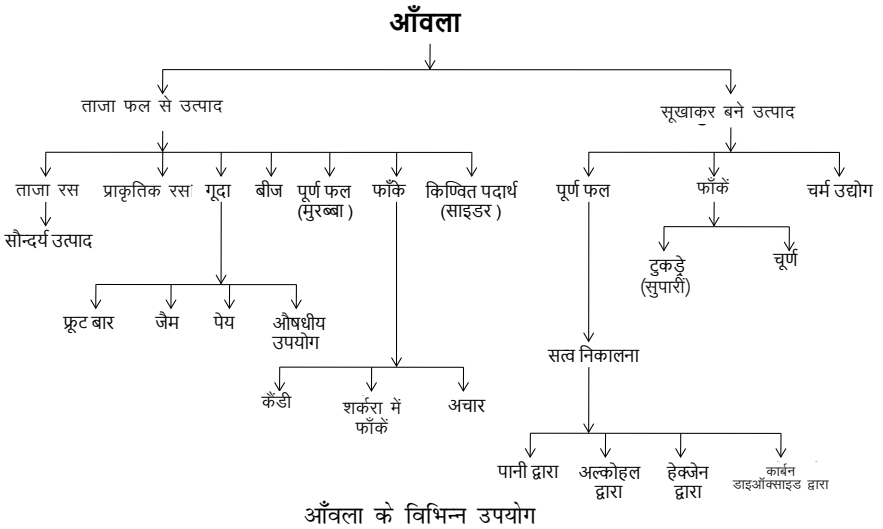

आँवला के विभिन्न उपयोग

सारणी 3: आँवला के प्रमुख भागों की उपयोगिता

प्रमुख भाग	उपयोग
फल	आँवला फल विटामिन सी, पेक्टिन तथा फाइबर का उत्तम स्रोत है। फलों में विटामिन सी की अधिक मात्रा होने के कारण इनमें एंटीऑक्सीडेंट, एंटीइन्फ्लेमेटरी तथा विषाणुरोधी गुण पाए जाते हैं। पारंपरिक चिकित्सा में इसका उपयोग दस्त, पीलिया, पेचिश, खाँसी, अस्थमा, ब्रोंकाइटिस आदि रोगों के उपचार में किया जाता है। आँवला फलों से जैम, जेली, अचार, कैंडी, मुरब्बा, जूस, स्क्वैश एवं आरटीएस पेय जैसे विभिन्न खाद्य उत्पाद बनाए जाते हैं। आँवला अनेक आयुर्वेदिक योगों का प्रमुख घटक है, जिनमें त्रिफला एवं च्यवनप्राश प्रमुख हैं। इसके फलों का उपयोग बालों के तेल एवं शैंपू निर्माण में भी किया जाता है।
पत्ती	आँवले की पत्तियों का उपयोग बुखार, दस्त, काढ़ा बनाने तथा घाव भरने में किया जाता है। पत्तियों का उपयोग वस्त्रों की रंगाई में भी किया जाता है। इनमें एंटीइन्फ्लेमेटरी एवं एंटीऑक्सीडेंट गुण पाए जाने के कारण गठिया रोग में लाभकारी मानी जाती हैं। पत्तियों में टैनिन की अधिक मात्रा होने के कारण इनका उपयोग पशुओं की खाल एवं चमड़ा संरक्षित करने में किया जाता है।
छाल	आँवले की छाल में रोगाणुरोधी एवं विषाणुरोधी गुण पाए जाते हैं, अत: इसका उपयोग घाव भरने में किया जाता है।
जड़	आँवले की जड़ का उपयोग कुछ पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में मूत्रवर्धक प्रभाव के लिए किया जाता है। कभी-कभी सामान्य दुर्बलता में हर्बल मिश्रण के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है।
बीज	आँवले के बीजों में फैटी एसिड एवं प्रोटीन पाए जाते हैं। इनका उपयोग पाचन संबंधी रोगों तथा त्वचा विकारों के उपचार में किया जाता है। बीजों के चूर्ण का उपयोग अस्थमा, ब्रोंकाइटिस एवं हर्बल हेयर पाउडर के निर्माण में किया जाता है।

बहुमूल्य औषधीय फल घिंगारू

मंदीप रावत[1] और **महेश कुमार समोटा**[2]

पाइराकेंथा, जिसे स्थानीय रूप से घिंगारू या हिमालयी अग्निकाँट के नाम से जाना जाता है, हिमालयी क्षेत्रों की एक महत्वपूर्ण औषधीय जंगली प्रजाति है। यह सदाबहार झाड़ी तीखे कांटों से युक्त होती है, जिससे त्वचा के संपर्क में आने पर दर्द और सूजन हो सकती है। इसके चमकीले लाल फल पारंपरिक रूप से पेट संबंधी विकारों के उपचार और लोक आहार में उपयोग किए जाते रहे हैं। वैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि पाइराकेंथा के फलों में कैंसररोधी, सूजनरोधी, मधुमेहरोधी, जीवाणुरोधी एवं कवकरोधी गुण मौजूद हैं। यही गुण इसे न केवल औषधीय, बल्कि पोषण संबंधी दृष्टि से भी महत्वपूर्ण बनाते हैं।

पेइराकेंथा का प्राकृतिक आवास 1000-2700 मीटर की ऊँचाई वाले पर्वतीय क्षेत्रों में है। यह दक्षिण-पश्चिम यूरोप से लेकर दक्षिण-पूर्व एशिया तक फैली हुई है। भारत में इसकी उपस्थिति जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, नगालैंड, मणिपुर, मेघालय, ओडिशा और आंध्र प्रदेश के पूर्वी घाटों तक देखी जाती है।

इस अल्प-प्रयुक्त जंगली फल की पहचान, संरक्षण और उपयोग स्थानीय समुदायों के आजीविका संवर्धन के साथ-साथ व्यापक जनसंख्या के पोषण और स्वास्थ्य लाभ के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

[1]तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद-244001, उत्तर प्रदेश [2]भाकृअनुप-केन्द्रीय कटाई उपरान्त अभियांत्रिकी एवं प्रौद्योगिकी, बोहर-152116, पंजाब

पौधे की विशेषताएं

घिंगारू का पौधा घनी झाड़ी से लेकर छोटे वृक्ष तक विकसित हो सकता है, जिसकी ऊँचाई सामान्यत: 1-4 मीटर होती है और अनुकूल परिस्थितियों में यह 6 मीटर तक पहुँच सकता है। फैलाव लगभग 5 मीटर तक होता है। इसके पत्ते भालाकार से अंडाकार, गहरे हरे रंग के, हल्के रोएँदार और दाँतेदार किनारों वाले होते हैं। फूल सफेद से मलाईदार सफेद रंग के होते हैं और मुख्य रूप से वसंत एवं ग्रीष्म ऋतु में खिलते हैं। फल छोटे, गूदेदार और लाल से नारंगी रंग के होते हैं, जिनका व्यास 5-9 मिमी होता है। बीज भूरे और अनियमित आकार के होते हैं।

कृषि उपयोग की दृष्टि से घिंगारू महत्वपूर्ण सहायक पौधा है। इसकी जड़ें मृदा को बाँधकर कटाव रोकती हैं और कांटेदार संरचना खेतों की घेराबंदी कर जंगली जानवरों से फसल सुरक्षा प्रदान करती है।

पोषण संरचना

पोषण और औषधीय दृष्टि से घिंगारू अत्यंत मूल्यवान है। वसंत ऋतु के पत्तों में 15.5% प्रोटीन, 3.5% वसा, 1.01% कैल्शियम, 0.83% फॉस्फोरस और 1,025 माइक्रोग्राम/किग्रा कैरोटीन पाया जाता है। फलों में विटामिन सी, विटामिन ए, बी समूह, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, फाइबर, कैल्शियम और पोटेशियम मौजूद होते हैं। इसके फल रक्तचाप नियंत्रित करते हैं, कोलेस्ट्रॉल वृद्धि नहीं करते और मधुमेह में लाभकारी हैं। घिंगारू के बायोफ्लेवोनोइड हृदय और रक्त परिसंचरण के लिए उपयोगी हैं। फल ऐंठनरोधी, भूखवर्धक, हृदय-बलवर्धक, मूत्रवर्धक और वाहिकाविस्तारक

गुणों के लिए जाने जाते हैं। जलने, मायोकार्डियल दुर्बलता, बर्जर रोग और खूनी पेचिश में इसका पारंपरिक उपयोग देखा गया है।

चिकित्सा प्रणाली में महत्व

भारतीय हिमालय में पाइराकेंथा क्रेनुलाटा (घिंगारू) का पारंपरिक चिकित्सा में व्यापक उपयोग होता रहा है। इसके फल उच्च रक्तचाप, धमनीकाठिन्य, एंजाइना, मधुमेह, गर्भावस्था में एनीमिया, कब्ज और पेट संबंधी विकारों के उपचार में उपयोग किए जाते हैं। कान दर्द में इसके फलों का रस बाहरी रूप से लगाया जाता है, जबकि मध्य हिमालय में शरीर दर्द से राहत के लिए इसकी जड़ें स्नान के पानी में मिलाकर प्रयोग की जाती हैं।

पारंपरिक चीनी चिकित्सा मे पाइराकेंथा फॉर्चुनानिया के फल अपच और पेचिश में मौखिक रूप से तथा घावों पर बाहरी रूप से लगाए जाते हैं। तुर्की में इसकी पत्तियों का उपयोग अतिसार और मूत्र संबंधी समस्याओं में किया जाता है।

आधुनिक अनुसंधान में भारतीय रक्षा अनुसंधान संस्थान (डीआरडीओ) ने घिंगारू के फल से "हृदयामृत" नामक टॉनिक विकसित किया है। इसमें पाए जाने वाले कार्डियोटॉनिक, कोरोनरी वासोडाइलेटर और हाइपोटेंसिव गुण हृदय विफलता, मायोकार्डियल दुर्बलता, पैरॉक्सिस्मल टैचीकार्डिया, उच्च रक्तचाप, धमनीकाठिन्य और बर्जर रोग के उपचार में उपयोगी हैं।

इस प्रकार घिंगारू न केवल पारंपरिक चिकित्सा में, बल्कि आधुनिक हृदय एवं स्वास्थ्य देखभाल में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

स्वास्थ्य लाभ

एंटीऑक्सीडेंट गुण

घिंगारू के फलों में मौजूद एंटीऑक्सीडेंट फ्री रेडिकल्स से होने वाले सेलुलर नुकसान को कम करने में सहायक होते हैं। पश्चिमी हर्बलिस्टों के अनुसार, ये फल हृदय के लिए शक्तिशाली टॉनिक के रूप में काम करते हैं और उच्च रक्तचाप वाले रोगियों में हृदय की लय को सामान्य करने में उपयोगी माने जाते हैं।

घिंगारू के सूखे पत्ते

स्मृति और मस्तिष्क स्वास्थ्य में सहायक

पाइराकेंथा और गिंको की पत्तियों के मिश्रण से मस्तिष्क कोशिकाओं की गतिविधि बढ़ती है, जिससे स्मृति में सुधार होता है। पाइराकेंथा में पाई जाने वाली एंजाइम गतिविधियाँ कई पुराने रोगों और तंत्रिका संबंधी समस्याओं में राहत देने में सहायक मानी जाती हैं। शोधों से यह भी पता चला है कि यह पार्किंसन रोग जैसी स्थितियों में लाभकारी हो सकती है। इसके अर्क में ऐसिटाइलकोलिनेस्टरेज और ब्यूटिराइलकोलिनेस्टरेज जैसे एंजाइमों की क्रिया धीमी हो सकती है, जिससे मस्तिष्क में ऐसिटाइलकोलिन की मात्रा बढ़ती है और तंत्रिका कोशिकाओं के बीच संचार मजबूत होता है। यह प्रक्रिया अल्जाइमर जैसी न्यूरोडीजेनेरेटिव रोगों में भी मददगार हो सकती है।

एंटी-बैक्टीरियल और एंटी-फंगल गुण

पाइराकेंथा क्रेनुलाटा के एथेनॉलिक फल अर्क में शिगेला फ्लेक्सनेरी, इस्पिचेरिचिया कोलाई और स्ट्रेप्टोकॉक्स पाइोजेनेस जैसे भोजन जनित सूक्ष्मजीवों के खिलाफ प्रभावी एंटीबैक्टीरियल गतिविधि पाई गई है।

पथरी रोधी गुण

शोधों से पता चला है कि पाइराकेंथा के फल का अल्कोहल और रस अर्क पथरी बनने की प्रक्रिया को रोकने में सहायक होता है।

रक्तचाप नियंत्रक गुण

विज्ञान में सिद्ध हो चुका है कि पाइराकेंथा का सेवन उच्च रक्तचाप को नियंत्रित करने में प्रभावशाली है। भारतीय रक्षा जैव-ऊर्जा अनुसंधान संस्थान द्वारा किए गए अध्ययन में पाइराकेंथा आधारित हर्बल फॉर्मुलेशन ने उच्च रक्तचाप वाले चूहों में सकारात्मक प्रभाव डाला।

कॉस्मेटिक उद्योग में उपयोग

पाइराकेंथा में पाए जाने वाले फ्लेवोनॉइड्स में एंटी-फ्री रेडिकल और एंटी-ऑक्सीडेशन गुण होते हैं, जो मेलानिन संश्लेषण को कम करने और त्वचा की उम्र बढ़ने की प्रक्रिया

घिंगारू के सूखे फल

को धीमा करने में सहायक हैं। पाइराकेंथा जापोनिका का अर्क झाइयों को रोकने या कम करने में उपयोगी पाया गया।

हाइपरकोलेस्ट्रोलेमिया में सहायक

फलों में प्रचुर मात्रा में डाइटरी फाइबर और फेनोलिक यौगिक पाए जाते हैं, जो उच्च कोलेस्ट्रॉल को नियंत्रित करने में मददगार हैं। उच्च कैलोरी आहार वाले चूहों पर किए गए शोध में फल अर्क ने वजन बढ़ने की दर धीमी की और कुल कोलेस्ट्रॉल, ट्राइग्लिसराइड्स तथा लो-डेन्सिटी प्रोटीन कोलेस्ट्रॉल कम करते हुए हाई-डेन्सिटी प्रोटीन कोलेस्ट्रॉल बढ़ाया।

सुरक्षा और संभावित दुष्प्रभाव

पाइराकेंथा प्रजातियाँ रंग-बिरंगे फलों के कारण आकर्षक हैं। हालांकि, सुरक्षा संबंधी विस्तृत अध्ययन और संभावित दुष्प्रभावों पर अभी तक कोई व्यापक रिपोर्ट उपलब्ध नहीं है। यह पौधा घनी झाड़ियों का निर्माण करता है, जिससे अन्य पौधों की वृद्धि प्रभावित हो सकती है। इसका घना कवच कुछ स्थानीय पौधों के लिए आवश्यक परिस्थितियों को बदल देता है और केवल कुछ प्रजातियों की वृद्धि को बढ़ावा देता है। अन्य हानिकारक प्रभावों का कोई संकेत नहीं मिला है।

पाइराकेंथा केवल जंगली झाड़ी नहीं, बल्कि हिमालय की अमूल्य औषधीय धरोहर है। इसके बहुआयामी स्वास्थ्य लाभ जैसे पाचन सुधार, सूजन और संक्रमण से संरक्षण, तथा रोग-प्रतिरोधक क्षमता इसे पारंपरिक चिकित्सा और आधुनिक फार्मास्युटिकल अनुसंधान के बीच एक सशक्त सेतु बनाते हैं। वैज्ञानिक दोहन, सतत उपयोग और स्थानीय समुदायों की सहभागिता से संरक्षण को बढ़ावा देने पर यह न केवल जनस्वास्थ्य संवर्धन में सहायक होगी, बल्कि हिमालयी जैव-विविधता संरक्षण और ग्रामीण आजीविका सुदृढ़ीकरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

एवोकाडो उत्पादन की अपार संभावनाएँ

शिवम, पी. अन्बलगनं, पावुलुरी यशस्विनी, दुष्यंत कुमार राघव और
विमल कुमार सी

मधुमेह और हृदय रोग भारत सहित विश्वभर में तेजी से बढ़ रहे हैं, जिनके प्रमुख कारण मोटापा, निष्क्रिय जीवनशैली और अस्वास्थ्यकर आहार हैं। स्वास्थ्य के प्रति बढ़ती जागरूकता के कारण फाइटोन्यूट्रिएंट्स से भरपूर फलों की मांग लगातार बढ़ रही है। इन्ही फलों में एवोकाडो एक अद्वितीय फल है, जो बिना शर्करा बढ़ाए ऊर्जा प्रदान करता है और वसा-घुलनशील विटामिन, प्रोटीन, पोटेशियम तथा असंतृप्त वसा अम्लों से समृद्ध है। इसके गूदे के तेलीय तत्व पोषण, औषधीय और सौंदर्य प्रसाधन उद्योगों में उपयोगी हैं। संतुलित आहार के रूप में यह फल मधुमेह, हृदय रोग और उच्च कोलेस्ट्रॉल से बचाव में सहायक है। भारत में एवोकाडो एक उच्च मूल्य वाली फसल के रूप में तेजी से उभर रहा है। वर्तमान में भारत अपनी खपत का अधिकांश हिस्सा आयात करता है, जो किसानों, विशेषकर किसान उत्पादक संगठनों और समूह आधारित खेती के लिए बड़ा अवसर प्रस्तुत करता है। दक्षिण भारत, उत्तर-पूर्व और पूर्वी पहाड़ी क्षेत्रों की जलवायु एवोकाडो उत्पादन के लिए उपयुक्त है। उचित वैज्ञानिक प्रबंधन, मूल्य संवर्धन, प्रसंस्करण और निर्यात की संभावनाओं के साथ "मेड इन इंडिया एवोकाडो" किसानों की आय और निर्यात क्षमता को सशक्त बना सकता है।

एवोकाडो (पर्सिया अमेरिकाना मिल) लौरेसी परिवार से संबंधित एक महत्वपूर्ण विदेशी और लोकप्रिय फल है। इसका गूदा मक्खन जैसा, नरम और हल्का स्वाद रहित होता है, जिसके कारण इसे कभी-कभी "बटर फ्रूट", "वेजिटेबल बटर", "बटर नाशपाती", "नई दुनिया का फल" या "नवनीत फल" के नाम से जाना जाता है। यह गहरे हरे पत्तों वाला, तेजी से बढ़ने वाला और आकर्षक पेड़ है। इसके फूल गुच्छों में आते हैं और उनके खुलने का एक विशेष तरीका होता है जिसे पीडी-डीएसडी (प्रोग्राम्ड डबल-स्टेज डबल) कहा जाता है।

भाकृअनुप-केंद्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, कृषि विज्ञान केंद्र, मालदा, पश्चिम बंगाल-732101

औषधीय गुण

एवोकाडो अपने पोषण और औषधीय गुणों के कारण अत्यंत लाभकारी फल माना जाता है। यह हृदय रोग, कैंसर, मधुमेह, मोटापा, बुढ़ापा, आंख व त्वचा के रोगों जैसी समस्याओं की रोकथाम में सहायक है। इसमें पाए जाने वाले मोनोअनसैचुरेटेड वसा, फोलेट और बी-साइटोस्टेरोल हृदय स्वास्थ्य, रक्तचाप नियंत्रण और वजन घटाने में मदद करते हैं। ल्यूटिन आंखों और प्रोस्टेट कैंसर से सुरक्षा प्रदान करता है। इसके तेल की संरचना जैतून तेल जैसी होने से इसका उपयोग फार्मास्युटिकल और कॉस्मेटिक उद्योगों में भी होता है।

एवोकाडो के फलों में भी काफी विविधता होती है। ये गहरे हरे से लेकर बैंगनी रंग तक हो सकते हैं, सतह चिकनी से खुरदरी और छिलका पतला से मोटा हो सकता है। आकार नाशपाती, अंडाकार या गोल हो सकता है और वजन 120 ग्राम से 2.5 किलोग्राम तक हो सकता है। मुख्य रूप से फल का गूदा हरा या पीला होता है, जिसमें मक्खन जैसा गाढ़ापन और अखरोट जैसा स्वाद होता है।

एवोकाडो में फलन आमतौर पर 5 वर्ष बाद शुरू होता है, जबकि व्यावसायिक उत्पादन 7-8 वर्ष में संभव होता है। यह फल वर्ष में मई से सितंबर तक उपलब्ध होता है और उष्णकटिबंधीय एवं उपोष्णकटिबंधीय जलवायु में उग सकता है। विश्व उत्पादन

संभावनाएँ

एवोकाडो धीरे-धीरे भारत में एक उच्च मूल्य वाली फसल के रूप में उभर रहा है। आज उपभोक्ताओं में पोषण और जीवनशैली से जुड़े रोगों को लेकर जागरूकता बढ़ रही है, जिससे इस फल की मांग लगातार बढ़ रही है। फिलहाल भारत अपनी खपत का बड़ा हिस्सा केन्या, पेरू और न्यूजीलैंड जैसे देशों से आयात करता है। ऐसे में यह स्थिति भारतीय किसानों, विशेषकर समूह और किसान उत्पादक संगठनों के लिए एक बड़ा अवसर है, ताकि वे इस विशेष फल उत्पादन में प्रवेश कर सकें।

में मैक्सिको का 45% हिस्सा है, इसके बाद कोलंबिया, डोमिनिकन गणराज्य, पेरू, इंडोनेशिया और केन्या हैं, जबकि एशिया में इसकी खेती मुख्यत: चीन, कोरिया, वियतनाम, इजराइल और इंडोनेशिया तक सीमित है।

भारत में एवोकाडो अभी अल्प-उपयोगित फल है, लेकिन इसमें व्यावसायिक विस्तार की बड़ी संभावनाएँ हैं। वर्तमान में इसकी अनियमित खेती तमिलनाडु (कोडाइकनाल, ऊटी), केरल, कर्नाटक (गुंडलुपेट, कोडागु), महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों और उत्तर-पूर्वी भारत में 800-1,600 मीटर की ऊँचाई पर होती है। इन क्षेत्रों से लगभग 5,000 टन वार्षिक उत्पादन होता है, जो तेजी से बढ़ रहा है।

पौष्टिक गुणों से भरपूर एवोकाडो

एवोकाडो फल आज अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर और भारत में तेजी से लोकप्रिय हो रहा है, क्योंकि इसमें उच्च पोषक तत्व, एंटीऑक्सीडेंट, विटामिन, खनिज और चिकित्सीय गुणों वाले फाइटोन्यूट्रिएंट्स प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। इसकी निर्यात संभावनाएँ प्रबल हैं, और देश की विविध कृषि-जलवायु परिस्थितियाँ इसे उगाने के लिए अनुकूल हैं। वर्तमान में हास, फ्यूरेट, अर्का सुप्रीम, अर्का कुर्ग रवि और टीकेडी-1 जैसी उच्च उपज वाली किस्में उपलब्ध हैं।

एवोकाडो का उपयोग सलाद, सैंडविच, सूप, सिरका, आईसक्रीम तथा दुग्ध-मिश्रित पेयों में व्यापक रूप से किया जाता है। इसके गूदे को हिमांकित करके भी सुरक्षित रखा जा सकता है। भारतीय उद्यानिकी अनुसंधान संस्थान, बेंगलुरु द्वारा एवोकाडो की चटनी, ब्रेड पर लगाने योग्य मिश्रण तथा स्प्रे-ड्राई पाउडर जैसे उत्पाद विकसित किए गए हैं। एवोकाडो तेल का उपयोग आहार पकाने, सलाद, मेरिनेट तथा त्वचा देखभाल उत्पादों जैसे सनक्रीम, मॉइस्चराइजर और मेकअप बेस में भी किया जाता है।

बढ़ता घरेलू बाजार

शहरीकरण, मध्यम वर्ग की बढ़ती आय और बदलते आहार के रुझान ने एवोकाडो की मांग को बढ़ावा दिया है। यह फल होटल, रेस्टोरेंट और कैफे सैक्टर में खूब उपयोग हो रहा है, साथ ही सलाद, स्मूदी, सैंडविच और बेबी फूड में इसकी खपत बढ़ी है। वर्तमान में भारतीय बाजार में इसकी कीमत ₹250-₹400 प्रति कि.ग्रा. तक है, जो अधिकांश पारंपरिक फलों से कहीं अधिक है। यह ऊँची कीमत किसानों के लिए स्थानीय स्तर पर उत्पादन का सुनहरा अवसर दर्शाती है।

पोषण महत्व

एवोकाडो की पोषणीय गुणवत्ता अद्वितीय है, जिसमें अनेक महत्वपूर्ण पोषक तत्व पाए जाते हैं। इसकी पोषणीय महत्ता अधिकांश फलों की तुलना में लगभग चार गुना अधिक मानी जाती है, केले को छोड़कर। यह फल वसा-घुलनशील विटामिन (ए, डी, ई), विटामिन बी-समूह (थायमिन, राइबोफ्लेविन, नायसिन), एस्कॉर्बिक अम्ल तथा फोलिक अम्ल का उत्कृष्ट स्रोत है। इसके अतिरिक्त, इसमें दुर्लभ पादप रसायन भी प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। एवोकाडो में पर्याप्त मात्रा में एकल असंतृप्त वसा (ओलिइक, पाल्मिटोलेइक), कुछ संतृप्त वसा (पामिटिक, स्टियरिक) तथा सीमित मात्रा में बहुअसंतृप्त वसा (लिनोलिक) होती है। ये सभी द्रवीय लिपिड्स (ग्लाइकोलिपिड्स तथा फॉस्फोलिपिड्स) के साथ मिलकर उच्च घनत्व वाले लिपोप्रोटीन (अच्छे कोलेस्ट्रॉल) को बढ़ाने तथा निम्न घनत्व वाले लिपोप्रोटीन (हानिकारक कोलेस्ट्रॉल) को घटाने में सहायक होते हैं। इसके गूदे में लगभग चार प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है, जबकि कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। एवोकाडो में पोटेशियम, फॉस्फोरस, मैग्नीशियम तथा कैल्शियम के साथ-साथ आयरन, सेलेनियम एवं जस्ता जैसे सूक्ष्मतत्व भी उपस्थित होते हैं। इसमें प्रतिऑक्सीकारक एंजाइमों के अतिरिक्त अनेक लाभकारी जैव-सक्रिय यौगिक पाए जाते हैं, जैसे टैनिन, पॉलीफीनॉल, ग्लूटाथायोन (एक शक्तिशाली प्रतिऑक्सीकारक), फाइटोस्टेरॉल (जो निम्न घनत्व वाले लिपोप्रोटीन तथा कुल कोलेस्ट्रॉल को कम करने में सहायक होते हैं) तथा बीटा-सिटोस्टेरॉल, जो प्रतिरक्षा तंत्र को सशक्त बनाकर कैंसर, मानव प्रतिरक्षा अपूर्णता विषाणु तथा विभिन्न संक्रमणों से लड़ने में सहायक माना जाता है।

समूह और किसान उत्पादक संगठन आधारित खेती

भारत में एवोकाडो की खेती अभी नई है, इसलिए व्यक्तिगत स्तर पर किसानों को विपणन और तकनीकी दिक्कतें आ सकती हैं। ऐसे में समूह पद्धति और किसान उत्पादक संगठन आधारित खेती उपयोगी साबित होगी।

समूह बनाकर

- किसान थोक बाजारों और प्रसंस्करण इकाई को पर्याप्त मात्रा में आपूर्ति कर सकते हैं।
- सामूहिक खरीद और परिवहन से लागत कम होगी।
- किसान उत्पादक संगठनों के ब्रांड नाम से बिक्री करने पर उपभोक्ताओं का विश्वास बढ़ेगा।
- एवोकाडो तेल, ग्वाकामोले, प्यूरी और कॉस्मेटिक उत्पादों जैसे मूल्य वर्धित उत्पाद तैयार किए जा सकते हैं।

इस तरह की सामूहिक व्यवस्था से छोटे किसान भी मूल्य श्रृंखला से जुड़कर अधिक लाभ कमा सकेंगे।

भारत में उपयुक्त जलवायु क्षेत्र

एवोकाडो को उष्णकटिबंधीय और उपोष्णकटिबंधीय जलवायु की आवश्यकता होती है, जहाँ मध्यम वर्षा और अच्छी जल व निकासी वाली मिट्टी हो। भारत में कई क्षेत्र इसकी खेती के लिए उपयुक्त हैं, जैसे:

- दक्षिण भारत (केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु)
- उत्तर-पूर्वी राज्य (मेघालय, नगालैंड, मिजोरम, सिक्किम)
- पूर्वी पठारी और हिमालयी क्षेत्र (झारखंड, ओडिशा, पश्चिम बंगाल का पहाड़ी भाग, उत्तराखंड)

एवोकाडो की उन्नत किस्म

एवोकाडो की किस्म अर्का सुप्रीम

संभावनाएं

छोटे और सीमांत किसान यदि वैज्ञानिक तरीके से एवोकाडो की खेती करें तो उन्हें आम, केला या अमरूद जैसी पारंपरिक फसलों से भी अधिक लाभ मिल सकता है। यह वृक्ष बहुवर्षीय है, लंबे समय तक फल देता है और सालभर इसकी मांग बनी रहती है। अच्छी पैकेजिंग, भंडारण और कोल्ड चेन की सुविधा होने पर किसान इसे दूर-दराज के बाजारों तक भी बेच सकते हैं। बाग लगाने के शुरुआती वर्षों में किसान अन्य फसलें भी साथ में ले सकते हैं, जिससे उन्हें अतिरिक्त आमदनी होगी।

इन क्षेत्रों में प्रायोगिक खेती से अच्छे परिणाम मिले हैं और उन्नत किस्मों व रूटस्टॉक के प्रयोग से खेती और भी फैल सकती है।

मूल्य संवर्धन और निर्यात

भारत की खाड़ी देशों, दक्षिण-पूर्व एशिया और यूरोप से निकटता होने के कारण एवोकाडो निर्यात उन्मुख फसल बन सकता है। ताजे फलों के अलावा एवोकाडो तेल, डिप्स, स्प्रेड्स, न्यूट्रास्यूटिकल और कॉस्मेटिक उत्पादों की बड़ी मांग है। यदि क्लस्टर और किसान उत्पादक संगठन स्तर पर प्रसंस्करण और मूल्य संवर्धन हो तो किसानों की आय बढ़ने के साथ-साथ ग्रामीण स्तर पर रोजगार भी बढ़ेगा।

संस्थागत और नीतिगत सहयोग

भारत सरकार समेकित उद्यानिकी विकास मिशन और समूह-आधारित उद्यानिकी विकास योजनाओं के माध्यम से एवोकाडो जैसी फसलों को प्रोत्साहित कर रही है। किसान उत्पादक संगठनों को कोल्ड स्टोरेज, प्रसंस्करण इकाइयां और अवसंरचना से जुड़ी कई लाभकारी योजनाएँ मिल सकती हैं। अनुसंधान संस्थान और कृषि विज्ञान केंद्र किसानों को गुणवत्तापूर्ण पौध सामग्री, प्रशिक्षण और तकनीकी मार्गदर्शन उपलब्ध करवा सकते हैं। भारत में एवोकाडो की खेती एक उभरता हुआ अवसर है। बढ़ती स्वास्थ्य जागरूकता, पोषण एवं औषधीय गुणों, सौंदर्य प्रसाधनों में उपयोग और उच्च बाजार मूल्य के कारण इसकी मांग तेजी से बढ़ रही है। देश के अनेक हिस्से इसकी खेती के लिए उपयुक्त हैं, जिससे किसानों, विशेषकर एफपीओ और समूह आधारित संगठनों को लाभकारी संभावनाएँ मिल सकती हैं। यदि वैज्ञानिक प्रबंधन, मूल्य संवर्धन और मजबूत बाजार जुड़ाव पर ध्यान दिया जाए तो निकट भविष्य में "मेड इन इंडिया एवोकाडो" एक सफल ब्रांड बनकर किसानों की आय बढ़ाने और निर्यात में योगदान देने में सक्षम होगा।

लेखकों से अनुरोध

आज सूचना प्रौद्योगिकी के बदले हुए कदमों को हमारे पाठक और लेखक दोनों ने पहचाना है। पाठकगण लेखकों से सीधी बात कर सकें, इसलिए हम चाहते हैं कि सभी लेखक अपने लेख पोर्टल epatrika.icar.org.in में भेजने के साथ ई-मेल पता तथा मोबाइल नम्बर अवश्य दें।

संपादक

अनूठा

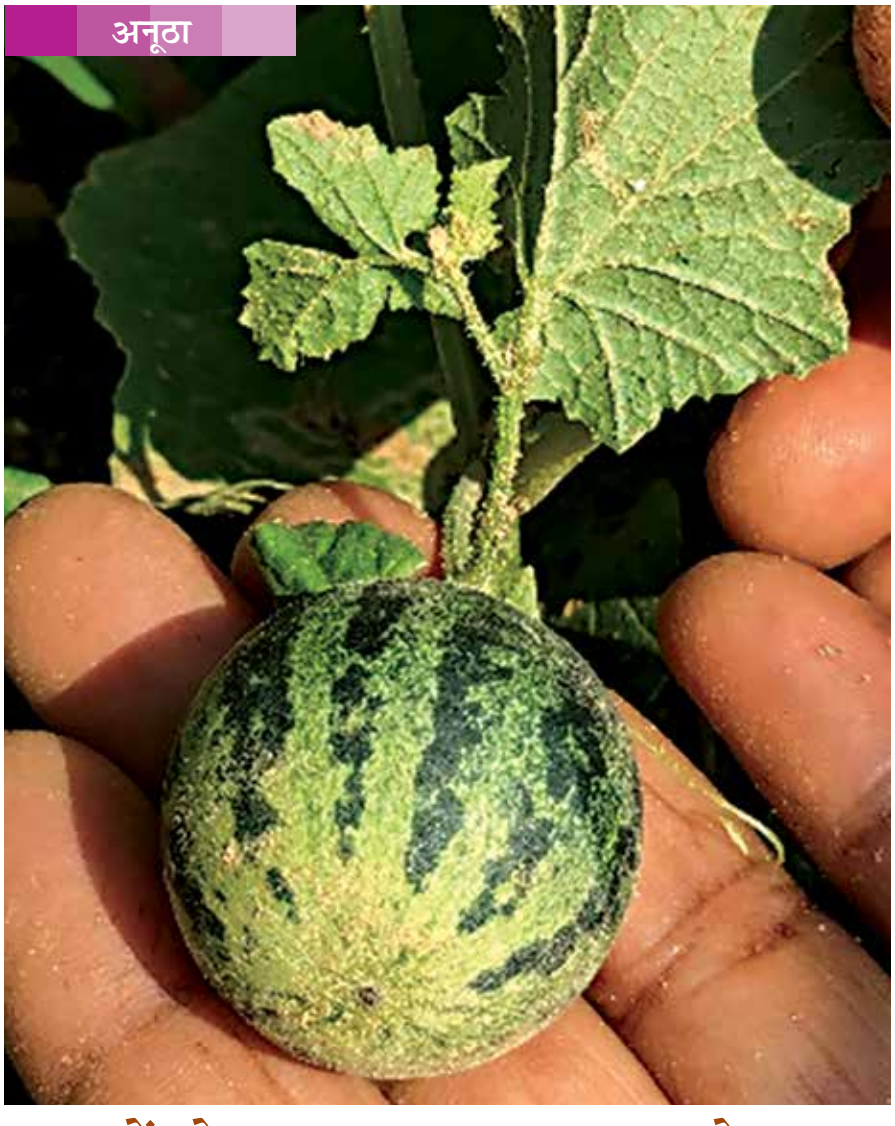

गुणों से भरपूर खाद्य पादप-पेहटा

शेफालिका आम्रपाली

झारखंड में अनेक ऐसे पौधे पाए जाते हैं, जो आदिवासी जीवन का अभिन्न हिस्सा रहे हैं। पेहटा झारखंड की पठारी भूमि और वनवासी जीवनशैली में पाया जाने वाला ऐसा ही एक फल है, जो स्वत: उगता है और आदिवासी समाज के प्रकृति से गहरे जुड़ाव का प्रतीक माना जाता है। इसे न तो बड़े खेतों में उगाया जाता है और न ही यह बाजारों में बड़ी मात्रा में उपलब्ध होता है, फिर भी यह ग्रामीण जीवन, पारंपरिक रसोई और लोक चिकित्सा में अपनी विशेष पहचान बनाए हुए है। स्थानीय क्षेत्रों में इसे चिब्बर, कचरी, जंगली खरबूजा, मस्क मेलन तथा छोटी लौकी जैसे नामों से जाना जाता है। वैज्ञानिक रूप से कुकुमिस मेलो वेराइटी एग्रेटिस कहलाने वाला यह जंगली खरबूजा सामान्यत: उपेक्षित रहता है, लेकिन आदिवासी समुदायों के लिए यह प्रकृति का एक अमूल्य उपहार है। पेहटा आदिवासी जीवन में केवल एक खाद्य उत्पाद नहीं, बल्कि उनकी सांस्कृतिक पहचान का भी प्रतीक है। गर्मियों के मौसम में, जब हरी सब्जियों की उपलब्धता कम हो जाती है, तब पेहटा ग्रामीण रसोई का महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाता है। यह न केवल पोषण का स्रोत है, बल्कि पारंपरिक चिकित्सा, सांस्कृतिक अनुष्ठानों और सतत कृषि प्रणाली की एक अहम कड़ी भी है।

पेहटा, जिसका वैज्ञानिक नाम कुकुमिस मेलो वेराइटी एग्रेटिस है, एक वार्षिक, उभयलिंगी तथा रेंगने वाली लता है, जो ककड़ी/खरबूजा कुल से संबंधित है। यह पौधा मुख्यत: एशिया और अफ्रीका के जंगली एवं अर्ध-खेती वाले क्षेत्रों में पाया जाता है। इसकी लता पतली और भूमि पर फैलने वाली होती है। पत्तियाँ खुरदरी, त्रिकोणीय से अंडाकार होती हैं, जो सामान्यत: 3-5 खंडों में विभाजित रहती हैं।

इस पौधे में जुलाई से नवंबर के बीच चमकीले पीले रंग के फूल खिलते हैं। इसके फल छोटे, अंडाकार से दीर्घवृत्ताकार होते हैं, जिनका रंग हल्का हरा होता है और उन पर गहरे हरे रंग की धारियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। फलों के भीतर अनेक रेशेदार बीज पाए जाते हैं।

पेहटा गर्म एवं शुष्क जलवायु के लिए अनुकूलित पौधा है तथा अच्छी जल निकासी

पेहटा फल का ऊर्ध्वाधर अनुभाग

औषधीय और पोषक गुण

पेहटा केवल स्वाद ही नहीं, बल्कि सेहत का भी एक महत्वपूर्ण स्रोत है। इसमें प्रोटीन, खनिज लवण, विटामिन तथा विभिन्न जैव-सक्रिय यौगिक पाए जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इस फल का उपयोग प्राय: सब्जी के रूप में किया जाता है। अधपके फलों में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, लिपिड्स, सोडियम, पोटेशियम, कोबाल्ट, आयरन, अमीनो अम्ल, जल में घुलनशील तत्व तथा विभिन्न विटामिन्स प्रचुर मात्रा में उपस्थित रहते हैं। पेहटा अपने औषधीय गुणों के लिए भी प्रसिद्ध है, जिसका प्रमुख कारण इसमें पाए जाने वाले जैव-सक्रिय घटक जैसे फिनोल्स, फ्लावोनॉइड्स, टरपेनॉइड्स, स्टेरॉल्स, सैपोनिन तथा एल्कलॉइड्स हैं। फल एवं बीजों में विद्यमान जैव-सक्रिय तत्व शक्तिशाली एंटीऑक्सीडेंट गतिविधि प्रदर्शित करते हैं, जिनमें फिनोलिक अम्ल, असंतृप्त फैटी अम्ल तथा विशिष्ट फाइटोकंपाउंड्स, जैसे कुकुर्बिटासिन्स शामिल हैं। इसके हाइड्रोक्लोरो-एल्कोहोलिक अर्क में क्वेरसेटिन, पी-कौमारिक अम्ल, गैलिक अम्ल, क्लोरोजेनिक अम्ल तथा ट्रांस-4-हाइड्रॉक्सी-3-मेथॉक्सी सिनामिक अम्ल जैसे यौगिक पाए जाते हैं, जिन्हें हाल के अध्ययनों में नेफ्रोप्रोटेक्टिव (गुर्दा-सुरक्षात्मक) गुणों से युक्त माना गया है।

वैज्ञानिक भाकृअनुप-राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो, क्षेत्रीय केंद्र रांची, नया भूसुर, झारखंड-834003

वाली मिट्टी में यह बेहतर रूप से विकसित होता है। प्राकृतिक परिस्थितियों में स्वत: उगने वाला यह पौधा कम देखभाल में भी फल देने की क्षमता रखता है, जिससे यह वनवासी एवं आदिवासी क्षेत्रों में विशेष महत्व रखता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में पेहटा का उपयोग प्राय: सब्जी के रूप में किया जाता है। यह पौधा फिनोल्स, फ्लावोनॉइड्स तथा कुकुर्बिटासिन्स जैसे जैव सक्रिय यौगिकों से समृद्ध होता है, जो इसे एंटीऑक्सीडेंट, सूजन रोधी तथा नेफ्रोप्रोटेक्टिव (गुर्दा सुरक्षात्मक) औषधीय गुण प्रदान करते हैं। इन्हीं गुणों के कारण पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में इसका विशेष स्थान रहा है।

पेहटा विश्व के उष्णकटिबंधीय एवं उपोष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में व्यापक रूप से फैला हुआ है। यह मुख्यत: अफ्रीका, एशिया (विशेषकर भारत), ऑस्ट्रेलिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ भागों में प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। अपनी उच्च अनुकूलन क्षमता और पारंपरिक औषधीय उपयोगों के कारण इसे विश्व के अन्य अनेक क्षेत्रों में भी पुन:स्थापित किया गया है।

इस पौधे की जैव विविधता, औषधीय महत्ता तथा व्यापक भौगोलिक वितरण इसे वैश्विक स्तर पर महत्वपूर्ण बनाते हैं। इसके विस्तार से इसकी पारिस्थितिक बहुक्षमता तथा पारंपरिक कृषि प्रणालियों और लोक चिकित्सा में इसकी उपयोगिता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

पेहटा झारखंड के रांची, गुमला, गढ़वा, सिमडेगा और खूंटी जैसे जिलों में स्वाभाविक रूप से उगता है। इसकी खेती के लिए किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। यह वर्षा आधारित, कम जल उपलब्धता वाली परिस्थितियों में भी आसानी से पनप जाता है। झारखंड के अधिकांश आदिवासी किसान इसकी अलग से खेती नहीं करते, बल्कि यह मक्का, धान, बाजरा, अरहर तथा अन्य स्थानीय फसलों के खेतों में स्वत: ही उग आता है, जिसे किसान फसल कटाई के समय एकत्र कर लेते हैं।

पेहटा फल का क्षैतिज अनुभाग

इसके फलों को हाथों से तोड़कर पतले-पतले टुकड़ों में काटा जाता है और धूप में सुखाया जाता है। सूखाने के बाद इन्हें डिब्बों, बाँस की टोकरियों अथवा नीम की पत्तियों से सजे मटकों में सुरक्षित रूप से संग्रहित किया जाता है। बीजों के चयन और संरक्षण की परंपरा मुख्यत: महिलाओं द्वारा निभाई जाती है, जो पीढ़ियों से इस पारंपरिक ज्ञान को सहेजती आ रही हैं।

पेहटा की उपस्थिति से खेतों की मृदा की उर्वराशक्ति बनाए रखने में सहायता मिलती है तथा कीट नियंत्रण भी स्वाभाविक रूप से होता है। इस प्रकार यह पौधा पारंपरिक कृषि प्रणाली में बिना अतिरिक्त लागत के पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आदिवासी चिकित्सा पद्धति में पेहटा को ठंडक प्रदान करने वाला तथा हल्का शुद्धिकारी फल माना जाता है। इसका उपयोग जलन और घावों पर लगाने के साथ-साथ बुखार, अपच तथा पेट के कीड़ों के उपचार में किया जाता है। इसमें उपस्थित एल्कलॉइड्स, फ्लावोनॉइड्स और फिनोलिक अम्ल इसके आयुर्वेदिक गुणों की पुष्टि करते हैं। यह एक सुलभ एवं प्रभावी घरेलू उपचार है, जिसे पीढ़ियों से अपनाया जाता रहा है। ग्रामीण वैद्य इसे बुखार, अपच, पेट के कीड़े और जलन जैसी समस्याओं में औषधि के रूप में प्रयोग करते हैं।

वर्तमान में इसकी सूखी फाँकें और बीज स्थानीय बाजारों में लगभग 300-350 रुपये प्रति कि.ग्रा. तक बिकते हैं, जो इसके आर्थिक महत्व को भी दर्शाता है।

अनुभव और परंपरा

गढ़वा जिले के एक किसान श्री कुमार मेहता का कहना है कि पेहटा गर्मियों के मौसम में उनके आहार का अभिन्न हिस्सा होता है। वहीं सुश्री सुनीता पांडे, जो गृहिणी होने के साथ-साथ किसान भी हैं, बताती हैं कि पेहटा के पतले-पतले टुकड़ों को तेल में छानकर नमक और मसाले मिलाए जाते हैं तथा इन्हें चिप्स की तरह आहार के साथ या अलग से खाया जाता है। इससे आहार का स्वाद और पोषण-दोनों ही बढ़ जाते हैं।

वे आगे बताती हैं कि इसके टुकड़ों को सुखाकर पीस लिया जाता है और सब्जियों के स्वाद को बढ़ाने के लिए मसाले के रूप में प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त पेहटा का उपयोग आहार में कई अन्य तरीकों से भी किया जाता

पेहटा की शुष्क फाँकें

संरक्षण

वर्तमान समय में, जब जलवायु परिवर्तन और आधुनिक कृषि प्रणालियाँ पारंपरिक फसलों को धीरे-धीरे पीछे धकेल रही हैं, तब पेहटा जैसी फसलें टिकाऊ कृषि और पोषण सुरक्षा की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण बन जाती हैं। दैनिक जीवन में इसके व्यापक उपयोग और इसके औषधीय गुणों को देखते हुए अनेक कृषि वैज्ञानिक इसके वैज्ञानिक अध्ययन और संरक्षण से जुड़े हुए हैं। पेहटा को एक जलवायु-प्रतिरोधी फसल के रूप में बढ़ावा दिया जा रहा है, जिससे आदिवासी किसान कम लागत में उत्पादन कर आत्मनिर्भर बन सकें। इसके संरक्षण और संवर्धन के लिए स्थानीय संस्थान, गैर-सरकारी संगठन तथा कृषि केंद्र आदिवासी समुदायों के साथ मिलकर सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं। इन पहलों के माध्यम से न केवल इस पारंपरिक फसल की जैव विविधता को संरक्षित किया जा रहा है, बल्कि स्थानीय ज्ञान, संस्कृति और सतत कृषि प्रणालियों को भी पुनः सशक्त बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

है। पेहटा आदिवासी रसोई का एक अभिन्न हिस्सा है। इसके सूखे टुकड़ों का चूर्ण चटनी, सब्जी और अचार में प्रयुक्त किया जाता है। सरहुल और करमा जैसे त्योहारों में पेहटा से बने विशेष व्यंजन तैयार किए जाते हैं, जो प्रकृति के प्रति कृतज्ञता और सामुदायिक एकता के प्रतीक माने जाते हैं।

पेहटा की लता

मधुमक्खियों द्वारा परागण

पेहटा के विभिन्न स्थानीय व्यंजन

- **चटनी:** पेहटा के पके फलों की सूखी फाँकों को लहसुन, हरी मिर्च, धनिया पत्ता और सरसों के तेल के साथ पीसकर चटनी तैयार की जाती है। यह विशेष रूप से गर्मियों में सब्जियों की कमी को पूरा करती है तथा आहार के स्वाद और पौष्टिकता दोनों में वृद्धि करती है।
- **सूखी सब्जी:** ताजे या सूखे पेहटा के फल को आलू और प्याज के साथ हल्दी, नमक तथा सरसों के तेल में पकाया जाता है। हल्की खटास और कुरकुरेपन के कारण यह सब्जी ग्रामीण क्षेत्रों में काफी लोकप्रिय है।
- **अचार:** पेहटा के सूखे फल के टुकड़ों को सरसों, सौंफ, हल्दी, नमक एवं सरसों के तेल के साथ मिलाकर धूप में सुखाया जाता है। यह अचार महीनों तक सुरक्षित रहता है और भोजन के स्वाद को बढ़ाता है।
- **पाउडर:** सूखे फलों को पीसकर पाउडर बनाया जाता है, जिसका उपयोग मांस को मुलायम बनाने के लिए किया जाता है। यह एक प्राकृतिक टेंडराइजर है, जिसे आदिवासी मांसाहारी व्यंजनों में आमतौर पर प्रयोग में लाया जाता है।
- **पेहटा का भुर्ता:** उबले हुए पेहटा को लहसुन, हरी मिर्च और नमक के साथ मसलकर, उस पर सरसों के तेल का तड़का लगाया जाता है। यह व्यंजन विशेष रूप से सरहुल पर्व के अवसर पर तैयार किया जाता है।

पेहटा केवल एक फल नहीं, बल्कि जीवित परंपरा, सततता और सांस्कृतिक गर्व की कहानी है। यह हमें सिखाता है कि प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित कर जीवन को किस प्रकार समृद्ध बनाया जा सकता है। जब दुनिया नवाचार और आधुनिकता की दौड़ में आगे बढ़ रही है, तब झारखंड का यह जंगली फल हमें अपनी जड़ों से जुड़े रहने और उन समुदायों की बुद्धिमत्ता को सम्मान देने की सीख देता है, जो प्रकृति के सबसे निकट रहते हैं।

आज जब विश्वभर में सुपरफूड्स की खोज की जा रही है, तब झारखंड का यह "जंगली खरबूजा" पहले से ही ऐसा पौधा है, जिसमें पोषण, औषधीय गुण और सांस्कृतिक विरासत तीनों का अनूठा संगम देखने को मिलता है। पेहटा न केवल आदिवासी जीवनशैली का प्रतीक है, बल्कि सतत कृषि और पोषण सुरक्षा के भविष्य की ओर भी संकेत करता है।

गौण पत्तेदार औषधीय सब्जियों का बढ़ता महत्व

स्वाती साहा और **अनिल खार**

हरे पत्तेदार औषधीय पौधों का दैनिक जीवन में अनेक प्रकार से उपयोग किया जाता है। प्राचीन काल से ही ये विभिन्न रोगों के उपचार में पारंपरिक एवं बुनियादी चिकित्सा पद्धतियों का महत्वपूर्ण हिस्सा रहे हैं, साथ ही रसोई में भी प्रमुख सामग्री के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनके व्यापक उपयोग के बावजूद, इनके संबंध में उपलब्ध वैज्ञानिक एवं प्रलेखित जानकारी अपेक्षाकृत सीमित है, क्योंकि इनका ज्ञान प्राय: क्षेत्र एवं स्थान विशेष तक ही सीमित रहता है। ये पत्तेदार सब्जियाँ उच्च पोषणीय मूल्य से भरपूर होती हैं, जो बेहतर स्वास्थ्य, रोग प्रतिरोधक क्षमता तथा पोषण सुरक्षा सुनिश्चित करने में सहायक हैं। अत: संतुलित आहार के अंतर्गत इन्हें दैनिक आहार में शामिल करना अत्यंत लाभकारी है। भारत में पत्तेदार सब्जियों की एक विशाल विविधता पाई जाती है, जिनमें प्रचुर मात्रा में उच्च पोषण क्षमता निहित होती है। इसके बावजूद, इनके उत्पादन, गुणवत्ता एवं उपयोग संबंधी विशेषताओं पर व्यावहारिक और वैज्ञानिक जानकारी अपेक्षाकृत सीमित है। हाल के वर्षों में इनमें से कुछ पत्तेदार सब्जियों की ओर किसानों एवं उपभोक्ताओं का ध्यान आकर्षित हुआ है, किंतु यह रुचि अभी भी मुख्यत: क्षेत्र-विशिष्ट बनी हुई है। पोषण एवं स्वास्थ्य सुरक्षा को सुदृढ़ करने के लिए इन सब्जियों पर केंद्रित और समग्र दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

पत्तेदार सब्जियाँ न केवल अत्यधिक पौष्टिक होती हैं, बल्कि इनमें महत्वपूर्ण औषधीय एवं चिकित्सीय गुण भी विद्यमान होते हैं, जिनका उपयोग प्राचीन काल से ही विभिन्न रोगों के मौलिक उपचार के रूप में किया जाता रहा है। पत्तेदार सब्जियों में चौलाई की उप-प्रजातियाँ तथा पालक (स्पिनेशिया ओलेरेसिया) की खेती देशभर में व्यावसायिक स्तर पर की जाती है। वहीं, बथुआ (चेनोपोडियम एल्बम), पोई (बसेला अल्बा / बसेला रूब्रा) तथा सहजन (मोरिंगा ओलेइफेरा) जैसी कुछ पत्तेदार सब्जियाँ क्षेत्र-विशिष्ट फसलों के रूप में उगाई जाती हैं।

भाकृअनुप-भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, क्षेत्रीय केंद्र, पुणे

अपने अपेक्षाकृत उच्च पोषणीय मान तथा खाद्य एवं पोषण सुरक्षा में महत्वपूर्ण योगदान के कारण इन पारंपरिक पत्तेदार सब्जियों की व्यापक रूप से सिफारिश की जाती है। साथ ही, ये सब्जियाँ आय सृजन का भी एक महत्वपूर्ण साधन हैं। इनकी खपत दैनिक आहार में विविधता लाती है तथा आहार में स्वाद एवं सुगंध को बढ़ाती है। पत्तेदार सब्जियाँ विटामिन, खनिज, ट्रेस तत्व, आहारीय रेशा (फूड फाइबर) तथा प्रोटीन से भरपूर होती हैं। अत: ये सब्जियाँ अपने पारितंत्र, सस्यविज्ञान एवं संवर्धन संबंधी गुणों के कारण विशेष महत्व रखती हैं।

- **कलमी साग**

यह एक अर्ध-जलीय एवं उष्णकटिबंधीय पौधा है। इसकी मुलायम

कलमी साग

ब्राह्मी (बैकोपा मोनियेरी)

ब्राह्मी एक महत्वपूर्ण औषधीय जड़ी-बूटी है, जो दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया की मूल प्रजाति मानी जाती है। इसका सामान्य नाम इंडियन पेनीवॉर्ट है। यह अपनी स्मरण शक्ति बढ़ाने वाली विशेषताओं के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसका संबंध प्लांटाजिनैसी कुल से है। आयुर्वेदिक पारंपरिक चिकित्सा पद्धति के अनुसार, इस पौधे के संपूर्ण भाग का उपयोग औषधीय रूप में किया जाता है। इसमें ट्यूमर रोधी, एंटी वायरल तथा एंटी-जीनोटॉक्सिक गुण पाए जाते हैं। इस पौधे की पत्तियाँ रसीली, आयताकार तथा लगभग 4-6 मि.मी. (0. 16-0.24 इंच) मोटी होती हैं। पत्तियाँ तिरछी होती हैं तथा तने पर विपरीत दिशा में व्यवस्थित रहती हैं। इसका प्रवर्धन सामान्यत: कटिंग के माध्यम से किया जाता है। यह एक रेंगने वाला (क्रीपिंग) बारहमासी पौधा है, जिसमें छोटे आयताकार पत्ते तथा सफेद रंग के फूल पाए जाते हैं। यह मुख्यत: गर्म एवं आर्द्र क्षेत्रों में उगता है।

सुश्नी साग/ चौपतिया (मार्सीलिया क्वाड्रीफोलिया)

यह पौधा मार्सीलियासी कुल से संबंधित है और यूरोप, एशिया के विभिन्न भागों में पाया जाता है। इसका उपयोग श्वसन संबंधी रोगों, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप आदि के उपचार में किया जाता है। जलीय एवं उभयचर पौधा होने के कारण इसकी जड़ें मिट्टी, कीचड़ अथवा उथले तालाबों में विकसित होती हैं। इसका वानस्पतिक प्रवर्धन प्रकंद (राइजोम) के माध्यम से होता है तथा शाखाएँ पत्तियों के आधार से निकलती हैं। जलमग्न प्रजातियों में डंठल लंबे, बेलनाकार एवं लचीले होते हैं। प्रत्येक डंठल के सिरे पर समान आकार की चार पत्तियाँ होती हैं, जो प्राय: पानी की सतह पर तैरती रहती हैं। इसी विशेषता के कारण इसे सामान्यत: चार पत्ती वाला क्लोवर कहा जाता है। इसका प्रवर्धन बीजाणुओं के माध्यम से भी होता है। पौधा स्पोरोकार्प्स का निर्माण करता है, जिन्हें हल्के से रगड़कर पानी में डुबोया जाता है। इसके पश्चात स्पोरोकार्प्स फूल जाते हैं और फटकर बीजाणुओं को मुक्त कर देते हैं, जो तुरंत अंकुरित हो जाते हैं। अत्यधिक विकसित प्रोथैलस बड़े बीज जैसे बीजाणुओं के भीतर ही विद्यमान रहता है। गैमेटोफाइट पीढ़ी लगभग 24 घंटे में पूर्ण हो जाती है तथा पहली जड़ एवं अंकुर 2-3 दिनों में दिखाई देने लगते हैं। स्पोरोकार्प्स युक्त परिपक्व पौधे लगभग 3 महीनों में विकसित हो जाते हैं। बीजाणु अंकुरण (गैमेटोफाइट वृद्धि) एवं निषेचन की प्रक्रिया शीघ्रता से पूर्ण होती है।

सुश्नी साग/ चौपतिया

टहनियों और पत्तियों को सब्जी प्रयोजन हेतु उगाया जाता है। इसकी पत्तियां खनिज, विटामिन, प्रोटीन और रेशे की अच्छी स्रोत होती हैं। आयरन से भरपूर होने के कारण ये एनीमिया से ग्रस्त लोगों के लिए लाभकारी होती हैं। यह शरीर भार को कम करने और कॉलेस्ट्रॉल तथा ट्राइग्लिसरॉइड्स स्तर को कम करने का एक उत्कृष्ट विकल्प है।

इसकी लता पानी या नम भूमि पर फैलती है। तना खोखला होता है और तने में ग्रंथियाँ होती हैं, जिनसे जड़ें निकलती हैं और नया पौधा बनता है। इसकी लता को टुकड़ों में तोड़कर नम भूमि में लगा देने से नया पौधा उत्पन्न हो जाता है। इसे तना कटिंग के साथ-साथ बीजों के माध्यम से भी बढ़ाया जा सकता है।

हर्कुच / हेलेन्चा साग (एनहाइड्रा फ्लक्टुएन्स)

यह एक देसी एवं खाद्य योग्य पत्तेदार पौधा है, जो भारत में अत्यधिक लोकप्रिय है। इसका सामान्य नाम बफेलो स्पिनच है, यह ऐस्टेरेसी कुल से संबंधित है तथा अपनी विशिष्ट औषधीय क्षमताओं के कारण विशेष महत्व रखता है।

भारत में यह लगभग सभी क्षेत्रों में पाया जाता है, विशेषकर उत्तर-पूर्वी भागों में इसकी व्यापक उपस्थिति देखी जाती है। यह सामान्यत: दलदली स्थानों, धान के खेतों के आसपास तथा तालाबों के किनारे उगता है। इसकी खपत भारत के लगभग प्रत्येक भाग में पत्तेदार सब्जी के रूप में की जाती है।

आयुर्वेद के अनुसार, इसमें अनेक औषधीय गुण विद्यमान होते हैं। इसका उपयोग पित्त संबंधी विकार, आक्षेप, मिर्गी, उच्च रक्तचाप, सूजन, यकृत (लीवर) रोग, तंत्रिका विकार, पक्षाघात अथवा लकवा, त्वचा रोग आदि के उपचार में किया जाता है।

यह एक तैरने वाला पौधा है, जिसमें जड़ों का विकास निचली गाँठों (नोड्स) पर होता है तथा तना सामान्यत: 30-60 सें. मी. लंबा होता है। पत्तियाँ अवृंत, 2.5-7.5 सें.मी. लंबी, रैखिक से आयताकार तथा नुकीली अथवा कुंद होती हैं। तना मांसल, रोएँदार एवं शाखायुक्त होता है। फल कठोर रिसेप्टेकल स्केल्स से घिरे हुए एकीन प्रकार के होते हैं।

ब्राह्मी

कुलेखरा (हाइग्रोफिला औरिकुलेटा)

यह एक उभरता हुआ औषधीय पौधा है तथा एकैन्थासिये परिवार से संबंधित है। इसका सामान्य नाम स्वैम्पवीड्स, मार्श बार्बेल है। यह भारत में उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्णकटिबंधीय क्षेत्र में वितरित है। इसके

औषधीय गुणों की प्राचीन चिकित्सा साहित्य में पहले ही सराहना की गई है।

पौधे में टर्पिनॉइड्स, एल्कालॉइड्स, फ्लेवोनॉइड्स पाया जाता है, और पारम्परिक रूप में इसे काम उत्तेजना को बढ़ाने वाला, गुर्दे को मजबूती प्रदान करने तथा इसके स्वास्थ्यवर्धक गुणों के लिए जाना जाता है। इस पौधे का उपयोग कैंसर तथा ट्यूबरकुलर फिस्टुला में किया जाता है (जड़ तथा बीज अस्थमा तथा पेचिश के लिए टॉनिक के रूप में उपयोग किए जाते हैं)।

इस पौधे की पत्ती, जड़ तथा बीज का उपयोग पारंपरिक रूप से सूजन, पीलिया, यकृत अवरोध, मूत्र संक्रमण, शोथ, गठिया, मधुमेह, जीवाणु संक्रमण आदि के उपचार के लिए किया जाता है। आयुर्वेद में, इसके बीज और पंचांग (जड़, फूल, तना, फल और पत्तियों को एक साथ जलाकर राख बनाया जाता है) का उपयोग औषधि के रूप में किया जाता है।

इसका प्रवर्धन बीज और तने की कटिंग द्वारा किया जाता है। पौधे का तना चतुष्कोणीय, रोएँदार और गांठों पर कठोर होता है, जिसकी ऊँचाई 60 सें.मी. तक होती है। इसके फूल बैंगनी रंग के और फल चौतरफा आकार जैसा दिखता है जो रैखिक, चिकना और लगभग 1 सें.मी. लंबा, जिसके बीज रोएँदार और भूरे रंग के होते हैं।

जिम साग (ग्लाइनस ऑपोजिटिफोलियस)

यह एक शाखायुक्त जड़ी-बूटी है और यह मोलुगिनासिऐ परिवार से संबंधित है। इसका सामान्य नाम इंडियन चिकवीड है। इस कड़वी पत्तेदार सब्जी को 'गिमा साग' के नाम से जाना जाता है और यह आमतौर पर फसल कटाई के बाद धान के खेतों में एक आम खरपतवार के रूप में पाई जाती है।

पारंपरिक रूप से घाव भरने, मधुमेह विरोधी, बुखार, सूजन, दस्त, आंतों और त्वचा संबंधी समस्याओं में इसे उपयोग किया जाता है। इसे हमारे स्वस्थ आहार में शामिल करने की सिफारिश की जा सकती है, क्योंकि इसका हीमोग्लोबिन और सीरम फेरिटिन के स्तर पर सकारात्मक प्रभाव देखा गया है। इसकी पत्तियों में विभिन्न प्रकार के ट्राइटरपिनॉइड्स, ट्राइटरपिनॉइड सैपोनिन, ग्लाइनस अपोजाइड्स पाए जाते हैं जिनमें कवकरोधी गतिविधि देखी जाती है। इसका प्रवर्धन बीजों की बुआई करके अथवा तना कटिंग के माध्यम से किया जाता है।

इन पत्तेदार आयुर्वेदिक सब्जी- औषधीय पौधों में मानव कल्याण के दैनिक जीवन में अनेक उपयोग हैं। पिछले कुछ वर्षों में पारंपरिक रूप से उगाई और खाई जाने वाली कई फसलों को व्यवस्थित रूप से बदल दिया गया है। इन पारंपरिक पत्तेदार सब्जियों को न केवल खनिज उपभोग के लिए बल्कि प्रतिरक्षा बूस्टर के रूप में भी हमारे आहार में शामिल किया जा सकता है।

मंडूकपर्णी (सेंटेला एशियाटिका)

मंडूकपर्णी एक महत्वपूर्ण उष्णकटिबंधीय औषधीय पौधा है, जिसमें औषधीय, पोषणीय एवं सौंदर्य संबंधी गुण पाए जाते हैं। इसका सामान्य नाम एशियाटिक पेनीवॉर्ट है। यह एपियैसी कुल से संबंधित है तथा अफ्रीका, एशिया, ऑस्ट्रेलिया एवं पश्चिमी प्रशांत महासागर के द्वीपों के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों का मूलज है। इसे पकी हुई सब्जी एवं औषधि दोनों रूपों में उपयोग किया जाता है। इसका उपयोग पारंपरिक चीनी चिकित्सा तथा भारत में आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में घाव भरने, मानसिक विकारों एवं धमनी संबंधी रोगों के उपचार में किया जाता है। चरक संहिता के अनुसार, यह वृद्धावस्था को धीमा करने में एक अत्यंत उपयोगी औषधीय पौधा है। प्रकंद अथवा राइजोम युक्त बारहमासी पौधा होने के कारण यह भूमि की सतह के समीप बढ़ता है तथा शीघ्र ही घने आवरण के रूप में फैल जाता है। इसके तने पतले, रेंगने वाले स्टोलन होते हैं, जो हरे से लाल-हरे रंग के होते हैं और पौधों को आपस में जोड़ते हैं। इसकी पत्तियाँ लंबे डंठल वाली, हरी तथा गोल शीर्ष वाली होती हैं, जिनकी सतह चिकनी होती है। इसके फूल सफेद या हल्के लाल रंग के होते हैं, जो भूमि की सतह के निकट छोटे, गोल गुच्छों में उगते हैं। आमतौर पर कई हरे-पत्तेदार पौधों का उपयोग वर्षों से पारम्परिक दवाइयों में किया जाता रहा है।

मंडूकपर्णी

कुलेखरा

अल्प दोहित

बेहद उपयोगी फल है आर्टोकार्पस लकूचा

मीनाक्षी ठाकुर[1] और **प्रीति चौधरी**[2]

आर्टोकार्पस लकूचा, भारत के उप-हिमालयी क्षेत्रों का एक जंगली वृक्ष है, जिसका उपयोग खाद्य, गैर-खाद्य और औषधीय उद्देश्यों के लिए किया जाता है। इसके फल वसा, कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, फाइबर, बीटा-कैरोटीन, विटामिन सी और खनिजों से भरपूर होते हैं और इन्हें सब्जी के रूप में या मानव पोषण के लिए प्रसंस्करित रूप में खाया जा सकता है। आर्टोकार्पस लकूचा का उपयोग पाककला और औषधि उद्योगों में किया जा सकता है, जिससे यह कम उपयोग वाली, लेकिन पोषण से भरपूर वृक्ष प्रजाति अधिक लोकप्रिय बन सकती है। आर्टोकार्पस प्रजातियाँ अपने औषधीय गुणों और पोषक फलों के लिए जानी जाती हैं। आवश्यक पोषक तत्वों के साथ-साथ लिग्निन, सैपोनिन, फिनोल और फ्लेवोनोइड जैसे जैवसक्रिय फाइटोकेमिकल्स की उपस्थिति के कारण इन्हें जैव-कार्यात्मक खाद्य उत्पादों में भी शामिल किया जाता है। आर्टोकार्पस, शहतूत परिवार (मोरेसी) से संबंधित है और इसकी 64 स्वीकृत प्रजातियाँ हैं। इनमें से केवल दो प्रजातियाँ-आर्टोकार्पस हेटरोफिलस (कटहल) और आर्टोकार्पस अल्टिलिस (ब्रेडफ्रूट) एशिया के उष्णकटिबंधीय देशों में उगाई जाती हैं।

आर्टोकार्पस लकूचा को अंग्रेजी में मंकी जैक के नाम से जाना जाता है, जबकि हिंदी और अन्य स्थानीय बोलियों में इसे लकूचा, लकूच, लकूची, बधल, धौ, दहुआ और देफल जैसे कई नामों से जाना जाता है। संस्कृत में इसके कई नाम हैं, जैसे ऐरावत, अम्लक, दहू और ग्रन्थिमत्फला, जो इस वृक्ष के भारत में मूल निवास की ओर संकेत करते हैं। इस वृक्ष का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है।

उत्पत्ति और वितरण

आर्टोकार्पस लकूचा आमतौर पर भारत के उप-हिमालयी आर्द्र क्षेत्रों में पाया जाता है। इसका उत्पत्ति केंद्र भारतीय महाद्वीप है और यह श्रीलंका, बांग्लादेश जैसे उष्णकटिबंधीय देशों के साथ-साथ भारतीय उपमहाद्वीप के हिमालयी क्षेत्रों में भी व्यापक रूप से वितरित है। इसके अलावा, यह दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों जैसे थाइलैंड, कंबोडिया, मलेशिया, इंडोनेशिया और सिंगापुर में भी पाया जाता है। भारत में यह प्रायद्वीपीय उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों, पश्चिमी घाट, पूर्वी और पूर्वोत्तर उपोष्णकटिबंधीय राज्यों में व्यापक रूप से वितरित है, विशेषकर बिहार, झारखंड, छत्तीसगढ़, ओडिशा और कर्नाटक में।

विशेषताएँ

लकूचा फल की बनावट कटहल जैसी रेशेदार होती है और इसमें 10-30 बीज होते हैं, जिनका आकार और बनावट भिन्न हो सकती है। बीजों में सफेद चिपचिपा लेटेक्स पाया जाता है। एक परिपक्व वृक्ष लगभग 80 किलोग्राम तक उपज दे सकता है और प्रत्येक फल का वजन 200-350 ग्राम तक हो सकता है।

औषधीय गुण

लकूचा के पके फलों का स्वाद खट्टा-मीठा होता है तथा इनमें अनेक औषधीय गुण पाए जाते हैं, जैसे दस्त रोधी, बुढ़ापा रोधी, कैंसर रोधी, सूजन रोधी, दर्दनाशक, जीवाणुरोधी और साइटोटॉक्सिक गुण। इन औषधीय प्रभावों का श्रेय लकूचा फलों में उपस्थित विभिन्न जैवसक्रिय यौगिकों को दिया जाता है, जिनमें साइक्लोआर्टेनोन, साइक्लोआर्टेनॉल, α-एमिरिन एसीटेट तथा β-एमिरिन एसीटेट प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त, लकूचा में फ्लेवोनोइड्स और फेनोलिक अम्ल जैसे एंटीऑक्सीडेंट प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं, जो इसे स्वास्थ्यवर्धक बनाते हैं। पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में पके फलों के गूदे का उपयोग यकृत टॉनिक के रूप में किया जाता है।

[1]सहायक प्रोफेसर, आधारभूत विज्ञान विभाग, [2]सहायक प्रोफेसर, खाद्य विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग, औद्यानिकी एवं वानिकी महाविद्यालय, डॉ. यशवंत सिंह परमार औद्यानिकी एवं वानिकी विश्वविद्यालय, नेरी, हमीरपुर-177 001, हिमाचल प्रदेश

सारणी: लकूचा फलों की जैव रासायनिक संरचना

जैव रासायनिक घटक	मात्रा
नमी	81.32-86.95 प्रतिशत
वसा	3.17-15.00 प्रतिशत
कार्बोहाइड्रेट	1.32-8.62 प्रतिशत
प्रोटीन	0.12-0.51 प्रतिशत
फाइबर	1.84-10.21 प्रतिशत
राख	1.50-5.33 प्रतिशत
ऊर्जा	72.53-114.87 किलो कैलोरी
कैल्शियम	0.083-0.260 प्रतिशत
पोटेशियम	0.76-1.47 प्रतिशत
मैग्नीशियम	0.098-0.150 प्रतिशत
जिंक	19.82-24.92 पीपीएम
तांबा	7.81-12.84 पीपीएम
आयरन	284.95-802.01 पीपीएम
विटामिन सी	171.07 मिलीग्राम प्रति 100 ग्राम

जैसे-जैसे फल पकता है, इसका रंग हरे से हल्के पीले और फिर भूरे रंग में बदल जाता है, जिसमें गुलाबी रंग की झलक भी होती है। ये फल बहुत जल्दी खराब हो जाते हैं और इनकी शेल्फ लाइफ कम होती है, इसलिए ये फल अपने मूल क्षेत्रों तक ही सीमित रहते हैं। केवल अचार के रूप में ही ये भौगोलिक सीमाओं को पार कर पाते हैं। आज, यह जंगली और देसी फल धीरे-धीरे ग्रामीण बाजारों से विलुप्त हो रहा है।

लकूचा के कच्चे फलों का अचार

आर्टोकार्पस लकूचा के बीज

लकूचा के फूलों के डंठल तथा कच्चे फलों को सब्जी के रूप में पकाया जाता है या अचार एवं चटनी बनाने में उपयोग किया जाता है। पके और मीठे फलों से जैम, जेली, कैंडी और विभिन्न मिठाइयाँ तैयार की जाती हैं। कच्चे लकूचा के टुकड़ों को सिरके में लहसुन, आम और तीखी मिर्च के साथ मिलाकर मसालेदार एवं तीखा अचार बनाया जाता है। इस फल को सूखे टुकड़ों, पाउडर और आटे के रूप में भी प्रसंस्करित किया जा सकता है, जिससे यह एक बहुउपयोगी खाद्य उत्पाद बन जाता है। इसके बीजों को भूनकर या उबालकर नाश्ते के रूप में खाया जाता है।

दक्षिण भारत में लकूचा के सूखे टुकड़ों की विशेष मांग है, क्योंकि इन्हें इमली या सिरके के विकल्प के रूप में प्रयोग किया जाता है, विशेष रूप से मछली की करी बनाने में यह बेहद उपयागी है। दक्षिण भारत में लकूचा के सूखे टुकड़ों की कीमत लगभग 250-300 रुपये प्रति कि.ग्रा. है। इसका निर्यात गोवा और महाराष्ट्र जैसे पड़ोसी राज्यों में किया जाता है, जहाँ पर्यटकों के बीच इसकी काफी मांग है।

पारंपरिक उपयोग

सदियों से लकूचा के फलों का उपयोग दस्त के उपचार, गठिया से जुड़ी सूजन को कम करने तथा घावों की सफाई के लिए किया जाता रहा है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि लकूचा के फलों में पोषक तत्वों की उच्च सांद्रता पाई जाती है तथा इनमें दस्तनाशक, बुढ़ापा-रोधी, यकृत-सुरक्षात्मक, सूजन-रोधी, दर्दनाशक, जीवाणुरोधी और कोशिकाविष-रोधी गुण विद्यमान हैं। यद्यपि इसका उपयोग प्राचीन काल से ही खाद्य एवं औषधीय प्रयोजनों के लिए किया जाता रहा है, फिर भी इसके वर्तमान अनुप्रयोग अपेक्षाकृत सीमित हैं।

अत: पाककला और औषधि उद्योगों में इसके उपयोग को विस्तारित करने हेतु लकूचा पर और अधिक वैज्ञानिक शोध की आवश्यकता है, जिससे इस कम उपयोग वाले लेकिन पोषण से भरपूर फल को व्यापक स्तर पर लोकप्रिय बनाया जा सके।

पोषण संरचना

लकूचा के फल वसा, कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, फाइबर, खनिजों जैसे कैल्शियम, पोटेशियम, मैग्नीशियम, जिंक, तांबा और लोहा तथा विटामिन सी के अच्छे स्रोत हैं। लकूचा में पाई जाने वाली प्रमुख शर्करा फ्रुक्टोज, ग्लूकोज और सुक्रोज हैं। यह बीटा-कैरोटीन का भी समृद्ध स्रोत है, जो शरीर में विटामिन ए में परिवर्तित होता है। इसलिए यह फल विटामिन एवं सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी से उत्पन्न कुपोषण को दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इसके गूदे को सुखाकर पाउडर के रूप में परिवर्तित करने से पोषक तत्वों को केंद्रित किया जा सकता है, जिससे इसका उपयोग विविध पोषण उत्पादों में संभव है।

एप्पल बेर का लाभकारी उत्पादन

पी. सी. चौरसिया, नवनीत राणा, अनुराग और **ओकेश चंद्राकर**

शुष्क क्षेत्रों में उगाए जाने वाले फलों में बेर का विशेष स्थान है। बेर के पौधों में विपरीत परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढालने की अद्‌भुत क्षमता होती है। इसके फलस्वरूप शुष्क एवं अर्धशुष्क क्षेत्रों में, जहाँ वार्षिक वर्षा कम एवं अनियमित होती है तथा सूर्य विकिरण अधिक रहता है, वहाँ भी इसका सफलतापूर्वक फलोत्पादन किया जा सकता है। बेर का फल पौष्टिक तत्वों से परिपूर्ण होता है, जिसमें विटामिन, खनिज लवण एवं शर्करा प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। बेर के फलों का उपयोग ताजे फल के रूप में तथा परिरक्षित उत्पादों के रूप में किया जाता है। इसके फलों से शरबत, जैम, मुरब्बा, कैंडी, सूखे बेर आदि परिरक्षित उत्पाद तैयार किए जा सकते हैं। बेर के फल के सेवन से रक्त शुद्ध होता है तथा पाचन क्रिया ठीक रहती है। कच्चे फल के सेवन से कफ बढ़ता है, जबकि पका हुआ फल शीतल, सुपाच्य एवं शक्तिवर्धक माना जाता है। पोषण से भरपूर होने के अतिरिक्त वह फल उत्पाद के लिए लाभ की संभावनाएं प्रस्तुत करता है।

बेर की खेती कठिन परिस्थितियों में भी अच्छी उपज देती है। इसके फल पौष्टिक होते हैं और बाजार में आसानी से बिक जाते हैं। कम देखभाल में तैयार होने के कारण यह किसानों के लिए एक भरोसेमंद और लाभकारी फल फसल है। उचित किस्में और वैज्ञानिक प्रबंधन अपनाकर किसान अपनी आय बढ़ा सकते हैं तथा पोषण सुरक्षा भी सुनिश्चित कर सकते हैं।

भूमि एवं जलवायु

बेर की खेती साधारणत: सभी प्रकार की मृदा में की जा सकती है। इसे गहरी कंकरीली-पथरीली, बलुई, काली, लाल तथा चिकनी मृदा में सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। बेर एक सहनशील पौधा है, अत: इसे क्षारीय एवं लवणीय भूमि में भी उगाया जा सकता है। परती अथवा बंजर भूमि में भूमि सुधारक का प्रयोग कर इसकी सफल खेती संभव है।

उन्नत किस्में

देश के विभिन्न भागों में बेर की अनेक प्रजातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें झरबेर, बोरड़ी, कलमी बेर आदि प्रमुख हैं। अच्छी गुणवत्ता वाले फल उत्पादन के लिए क्षेत्र के अनुसार उपयुक्त एवं उन्नत किस्मों का चयन आवश्यक है। वर्तमान में बेर की लगभग 300 किस्में उपलब्ध हैं, जिनमें से कुछ किस्में व्यावसायिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

एप्पल बेर (थाई बेर): यह बेर की एक संकर किस्म है, जो कम समय में उत्पादन देना प्रारंभ कर देती है। इसे एप्पल बेर के नाम से भी जाना जाता है। इसके एक वृक्ष से लगभग 100 कि.ग्रा. वार्षिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है, तथा उचित देख रेख करने पर वर्ष में दो बार फल भी लिए जा सकते हैं। इस किस्म की विशेषता यह है कि इसके वृक्षों में कांटें नहीं होते।

पौध रोपण

बेर के पौध रोपण के लिए वर्षा ऋतु (जुलाई-अगस्त) सबसे उपयुक्त समय है। सिंचाई की सुविधा उपलब्ध होने पर बसंत ऋतु (फरवरी-मार्च) में भी रोपण किया जा सकता है। रेखांकन के बाद 6 × 6 मीटर की दूरी पर 60 × 60 × 60 सें.मी. आकार के गड्ढे वर्षा ऋतु से पूर्व तैयार कर लिए जाते हैं। रोपण से एक माह पहले इन गड्ढों में दो टोकरी सड़ी हुई गोबर की खाद एवं

इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय, कृषि महाविद्यालय एवं अनुसंधान केंद्र, महासमुंद, छत्तीसगढ़

खाद एवं उर्वरक

अच्छी वृद्धि एवं उत्पादन के लिए पौधों को उचित मात्रा में खाद एवं उर्वरक देना आवश्यक होता है। पोषक तत्वों की आवश्यकता क्षेत्र विशेष की मृदा उर्वरता पर निर्भर करती है। बलुई मृदा में सामान्यत: पोषक तत्वों की कमी पाई जाती है। अत: बेर के अच्छे उत्पादन के लिए पौध रोपण के बाद प्रथम वर्ष में प्रति पौधा 10-15 कि.ग्रा. सड़ी हुई गोबर की खाद तथा 100 ग्रा. नाइट्रोजन, 50 ग्रा. फॉस्फोरस एवं 50 ग्रा. पोटाश देना चाहिए। कभी-कभी गौण पोषक तत्वों की कमी के कारण पौधों की वृद्धि प्रभावित होती है तथा अपरिपक्व फलों के गिरने की समस्या देखी जाती है। ऐसी स्थिति में आवश्यक गौण पोषक तत्वों का पर्णीय छिड़काव करना चाहिए। यूरिया के 1-2 प्रतिशत घोल के पर्णीय छिड़काव से बेर की उपज एवं फलों की गुणवत्ता में वृद्धि देखी गई है।

पोषण से भरपूर बेर

30 ग्राम फिप्रोनिल चूर्ण को मृदा में मिलाकर भर दिया जाता है। रोपण के पश्चात हल्की सिंचाई करना अत्यंत आवश्यक होता है।

सिंचाई एवं जल प्रबंधन

बेर के नए पौधों की स्थापना के लिए प्रथम वर्ष में सिंचाई की अधिक आवश्यकता होती है। एक बार जब पौधे अच्छी तरह स्थापित हो जाते हैं, तब असिंचित दशा में भी बेर के पौधों से अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। सूखा पड़ने की स्थिति में भी अन्य फलदार फसलों की तुलना में बेर से अपेक्षाकृत अच्छा उत्पादन मिलता है।

छँटाई उपरांत बेर वृक्ष

अच्छी गुणवत्ता वाले अधिक फल उत्पादन के लिए फूल आने से पहले तथा फल बनने की अवस्था पर 15-20 दिनों के अंतराल पर दो-तीन बार सिंचाई करना लाभकारी होता है। मार्च-अप्रैल में पौधों को पानी देना हानिकारक होता है, क्योंकि इससे फलों की परिपक्वता में देरी होती है तथा फल फटने और रोग लगने की समस्या बढ़ जाती है।

अन्त: सस्यन

पौध रोपण के पश्चात प्रारंभिक तीन-चार वर्षों तक पौधों की कतारों के बीच पर्याप्त भूमि खाली रहती है। इस खाली स्थान से अतिरिक्त लाभ प्राप्त करने, मृदा उर्वरता बनाए रखने तथा मृदा कटाव को रोकने के लिए अन्त: सस्यन करना चाहिए। कम जल मांग वाली तथा जल्दी पककर तैयार होने वाली फसलों को उगाने से मृदा की उर्वरता, भौतिक दशा एवं जलधारण क्षमता में सुधार होता है।

पौधों की कटाई-छँटाई

प्रारंभ के दो-तीन वर्षों में पौधों का ढाँचा मजबूत बनाने के लिए उनकी कटाई-छँटाई करना अत्यंत आवश्यक होता है। बेर के पौधों में झाड़ीदार फैलाव की प्रवृत्ति होती है, अत: उन्हें सधाई (ट्रेनिंग) द्वारा वृक्षनुमा बनाया जाता है। मजबूत ढाँचा विकसित करने के लिए एक ही स्थान पर एक से अधिक शाखाएँ नहीं रखनी चाहिए। एक सीधे बढ़ने वाले मुख्य तने पर भूमि की सतह से 30-40 सें.मी. ऊँचाई पर समान दूरी पर चारों दिशाओं में फैलने वाली 3 या 4 शाखाओं को बढ़ने देना चाहिए। पौधों की कटाई-छँटाई अप्रैल-मई में की जानी चाहिए। रोगों से बचाव के लिए कटे हुए स्थानों पर फफूंदनाशी ब्लू कॉपर का लेप करना चाहिए।

कीट एवं रोग नियंत्रण

बेर में फलमक्खी, फलछेदक, चेफर बीटल, माइट, दीमक आदि कीटों तथा चूर्णिल आसिता, काला धब्बा, फल सड़न आदि रोगों से भारी नुकसान होता है। परंतु बेर के फलों को सबसे अधिक क्षति फलमक्खी कीट एवं चूर्णिल आसिता रोग के प्रकोप से होती है। प्रमुख कीटों एवं रोगों के नियंत्रण हेतु उपाय इस प्रकार हैं-

फलमक्खी: यह एक प्रमुख हानिकारक कीट है, जिसका प्रकोप बेर में फूल आने एवं फल बनने की अवस्था में होता है, किंतु इसका प्रभाव फलों के बड़े होने तथा पकने की अवस्था में स्पष्ट दिखाई देता है। इसके प्रकोप से फल का आकार विकृत हो जाता है तथा फलों को काटने पर गहरे भूरे रंग का गूदा दिखाई देता है, जिसमें कीट का लार्वा (लट) स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। फलमक्खी से बचाव के लिए जब

तुड़ाई एवं उपज

बेर में फूल आने के लगभग 150-175 दिनों के बाद फल परिपक्व हो जाते हैं। यद्यपि फलों की परिपक्वता क्षेत्र की जलवायु एवं किस्म पर निर्भर करती है, फिर भी फलों के रंग परिवर्तन की अवस्था पर तुड़ाई कई चरणों में की जाती है। सामान्यत: फलों की तुड़ाई प्रात: काल में करनी चाहिए, जिससे फलों को अधिक ताप से बचाया जा सके। छत्तीसगढ़ के मैदानी क्षेत्रों में एप्पल बेर की तुड़ाई दिसंबर से मार्च माह के बीच की जाती है। प्रजाति एवं बाग प्रबंधन के अनुसार बेर के एक पूर्ण विकसित पौधे से 40 से 200 कि.ग्रा. तक फल उपज प्राप्त की जा सकती है।

एप्पल बेर की उन्नत किस्म

वृक्षों में लगभग 75 प्रतिशत फूल आ जाएँ और फल बनना प्रारंभ हो जाएं, उस समय लैम्ब्डा-साइहैलोथ्रिन 5 प्रतिशत ई.सी. की 0.5 मिली प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर पहला छिड़काव करना चाहिए।

दीमक: शुष्क क्षेत्रों की बलुई मृदा में नवरोपित पौधों में दीमक का प्रकोप अधिक होता है। यह कीट पौधों के तनों के ऊपरी एवं ऊतकीय भाग को खाकर उन्हें कमजोर एवं खोखला बना देता है, जिससे पौधे प्रारंभिक अवस्था में ही सूख जाते हैं। इसके नियंत्रण के लिए गड्ढों के भराव मिश्रण में फिप्रोनिल 80 प्रतिशत डब्ल्यू.जी. का 0.2 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर 15-20 दिनों के अंतराल पर 2-3 बार छिड़काव करना चाहिए।

माइट: यह एक सूक्ष्म एवं हानिकारक कीट है, जिसके प्रकोप से कोमल पत्तियाँ और फूल सूखकर गिर जाते हैं। हल्के गुलाबी या सफेद रंग के ये छोटे-छोटे कीट पत्तियों की शिराओं एवं फूलों के डंठलों से रस चूसकर उन्हें सुखा देते हैं। इसके नियंत्रण के लिए एबामेक्टिन 1.9 प्रतिशत ई.सी. की 0.25-0.5 मि.ली. प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर 15-20 दिनों के अंतराल पर 2-3 छिड़काव करने चाहिए। इसके अतिरिक्त, गंधक के 0.2 प्रतिशत घोल का छिड़काव करने से भी इस कीट को नियंत्रित किया जा सकता है।

चूर्णिल आसिता (पाउडरी मिल्ड्यू): इस रोग के प्रकोप से पौधों की टहनियों, पत्तियों एवं फलों पर सफेद चूर्ण (पाउडर) जैसी फफूंद दिखाई देती है। नम वातावरण में इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। रोग के लक्षण दिखाई देने पर डायथेन एम-45 नामक कवकनाशी का 10-15 दिनों के अंतराल पर 3-4 बार छिड़काव करना चाहिए।

अल्टरनेरिया फल सड़न

यह एक कवकजनित रोग है, जिसके प्रकोप से फलों में फलवृंत के समीप गहरे भूरे रंग के धब्बे दिखाई देते हैं। रोगग्रस्त फल शीघ्र ही टूटकर गिर जाते हैं। इसके नियंत्रण के लिए लक्षण दिखाई देते ही जिनेब या डायथेन एम-45 नामक कवकनाशी के 0.2 प्रतिशत घोल का छिड़काव करना चाहिए।

रखरखाव

तुड़ाई के बाद फलों को किस्म एवं आकार के अनुसार छाँट लेना चाहिए। कच्चे या अधिक पके, रोगग्रस्त, विकृत, चोटिल अथवा पक्षियों द्वारा खाए गए फलों को अलग कर देना चाहिए। बेर के फलों को सामान्यत: सफेद कपड़े या टाट के बोरों में पैक कर स्थानीय बाजार में बिक्री हेतु भेजा जाता है, जबकि दूरस्थ बाजारों के लिए फलों को छिद्रयुक्त सी.एफ.बी. कार्टन अथवा कागज लगाकर लकड़ी के बक्सों में पैक किया जाता है। साधारण तापक्रम पर बेर के फलों को लगभग एक सप्ताह तक सुरक्षित रूप से भंडारित किया जा सकता है।

वैज्ञानिक विधि से स्वस्थ उत्पादन

चिरौंजी उत्पादन की संभावनाएं

[1]ए. के. श्रीवास्तव, [2]पंकज कुमार ओझा, [3]सिद्धार्थ कुमार और [4]प्रज्ञा ओझा

बुंदेलखंड, उत्तर भारत का एक विशिष्ट क्षेत्र है, जो उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के मध्य फैला हुआ है। यह क्षेत्र अपनी समृद्ध प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक विरासत के लिए जाना जाता है। पथरीली मिट्टी, कम वर्षा और कृषि आधारित अर्थव्यवस्था बुंदेलखंड की प्रमुख विशेषताएँ हैं। यहाँ की जलवायु एवं मृदा परिस्थितियाँ अनेक पारंपरिक तथा गैर-पारंपरिक फसलों के उत्पादन के लिए अनुकूल हैं, जिनमें चिरौंजी की खेती एक उभरता हुआ और आर्थिक रूप से लाभकारी विकल्प बनकर सामने आई है। चिरौंजी, जिसे स्थानीय भाषा में 'चार' या 'चिरौंजी' कहा जाता है, एक बहुमूल्य सूखा मेवा है। इसके बीजों के साथ-साथ अन्य भागों का उपयोग खाद्य, औषधीय एवं कॉस्मेटिक उद्योगों में व्यापक रूप से किया जाता है। बढ़ती बाजार मांग और बेहतर मूल्य के कारण चिरौंजी की खेती किसानों के लिए आय बढ़ाने का एक महत्वपूर्ण साधन बन सकती है। प्रस्तुत लेख में बुंदेलखंड क्षेत्र में चिरौंजी की खेती की संभावनाओं, इसके लाभ, प्रमुख चुनौतियों तथा उनके व्यावहारिक समाधानों पर विस्तार से चर्चा की गई है।

चिरौंजी, जिसका वैज्ञानिक नाम बुचानानिया लैंजान है, अनाकार्डिएसी कुल का एक मध्यम आकार का सदाबहार वृक्ष है। यह आर्थिक एवं पोषण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण व्यावसायिक वृक्ष फसल मानी जाती है। इसका उद्गम भारतीय उपमहाद्वीप माना जाता है तथा यह मुख्य रूप से भारत एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के शुष्क एवं उपोष्णकटिबंधीय पर्णपाती वनों में समुद्र तल से लगभग 900-1200 मीटर ऊँचाई तक प्राकृतिक रूप से पाया जाता है।

भारत में बुंदेलखंड, मध्य भारत, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के वन क्षेत्रों में चिरौंजी व्यापक रूप से पाई जाती है। इसके बीजों का उपयोग हलवा, खीर, बर्फी तथा अन्य पारंपरिक मिठाइयों में किया जाता है, वहीं नमकीन व्यंजनों में भी यह स्वाद एवं पोषण बढ़ाने के लिए प्रयुक्त होती है। इसके फल का गूदा रस निर्माण में उपयोगी है, जबकि लकड़ी का उपयोग माचिस उद्योग एवं अन्य काष्ठ उत्पादों में किया जाता है।

[1,2] एवं [3]बाँदा कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, बाँदा (उत्तर प्रदेश), [4]कृषि विज्ञान केन्द्र, बाँदा

जनजातीय एवं ग्रामीण समाज में चिरौंजी के दानों का उपयोग पोषण, औषधीय तथा व्यावसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसके बीजों से तैयार लेप त्वचा रोगों में लाभकारी माने जाते हैं, वहीं इसकी छाल में पाया जाने वाला प्राकृतिक वार्निश टैनिंग उद्योग में उपयोगी होता है। आयुर्वेद में चिरौंजी को एक महत्वपूर्ण औषधीय पौधे के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसकी छाल, पत्तियाँ और बीज त्वचा रोगों, पाचन विकारों, श्वसन संबंधी समस्याओं तथा मानसिक तनाव को कम करने में सहायक माने जाते हैं। इसके तेल का उपयोग सौंदर्य प्रसाधन उद्योग में क्रीम, लोशन एवं हेयर प्रोडक्ट्स के निर्माण में किया जाता है, जिससे वैश्विक बाजार में इसकी मांग निरंतर बढ़ रही है। इस प्रकार चिरौंजी का वृक्ष आर्थिक लाभ के साथ-साथ पर्यावरणीय और सामाजिक दृष्टि से भी अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है।

अनुकूल परिस्थितियाँ

बुंदेलखंड का भौगोलिक परिदृश्य एवं जलवायु चिरौंजी की खेती के लिए अत्यंत उपयुक्त मानी जाती है। इस क्षेत्र की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

मिट्टी एवं जलवायु

बुंदेलखंड क्षेत्र में लाल, पथरीली एवं कम उपजाऊ मिट्टी व्यापक रूप से पाई जाती है, जो चिरौंजी की खेती के लिए अनुकूल है। यह वृक्ष दोमट, रेतीली तथा चट्टानी मिट्टी में भी अच्छी वृद्धि करता है। चिरौंजी 35 डिग्री सेल्सियस तक के उच्च तापमान तथा 50-100 सें.मी. वार्षिक वर्षा की परिस्थितियों में भी सफलतापूर्वक विकसित हो सकती है, जो इस क्षेत्र की जलवायु के अनुरूप है।

सूखा सहिष्णुता

चिरौंजी का वृक्ष प्राकृतिक रूप से सूखा-सहिष्णु होता है तथा इसे बहुत कम सिंचाई की आवश्यकता होती है। जल संकट से प्रभावित बुंदेलखंड जैसे क्षेत्रों में यह फसल किसानों के लिए एक आदर्श विकल्प बन सकती है।

लंबी आयु एवं कम रखरखाव

एक बार स्थापित होने के बाद चिरौंजी का वृक्ष लगभग 40-50 वर्षों तक नियमित फल उत्पादन करता है। इसके रखरखाव की लागत कम होने के कारण यह छोटे एवं सीमांत किसानों के लिए दीर्घकालिक एवं सुरक्षित निवेश साबित हो सकता है।

प्राकृतिक उपलब्धता

बुंदेलखंड के वनों में चिरौंजी के वृक्ष पहले से ही प्राकृतिक रूप से मौजूद हैं, जिससे इस क्षेत्र में इसकी व्यावसायिक खेती की संभावनाएँ और अधिक मजबूत होती हैं।

सामाजिक स्तर पर सुधार

सामाजिक दृष्टिकोण से चिरौंजी का वृक्ष आदिवासी एवं ग्रामीण समुदायों के लिए आजीविका का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। यह वृक्ष बुंदेलखंड के वनों में प्राकृतिक रूप से पाया जाता है। इसके पके फल प्राय: आदिवासी महिलाएँ एवं बच्चे प्रात:काल वृक्षों के नीचे से एकत्र करते हैं। इसके बाद फलों को सुखाना, बीज निकालना, छिलाई एवं

आर्थिक संभावनाएँ

चिरौंजी की खेती बुंदेलखंड क्षेत्र के लिए आर्थिक समृद्धि का एक प्रभावी माध्यम बन सकती है। इसके प्रमुख आर्थिक लाभ निम्नलिखित हैं:

- चिरौंजी की गिरी बाजार में उच्च मूल्य पर बिकती है, जिसकी कीमत सामान्यत: ₹1500 से ₹3000 प्रति कि.ग्रा. तक रहती है।
- प्रतिवर्ष फल उत्पादन होने से किसानों को नियमित आय प्राप्त होती है।
- फल संग्रहण, गिरी निष्कर्षण, सुखाना, प्रसंस्करण एवं पैकेजिंग जैसे कार्यों से ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर सृजित होते हैं, विशेषकर महिलाओं के लिए।
- महिला स्वयं सहायता समूह इसके प्रसंस्करण एवं विपणन में सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं।
- चिरौंजी की गिरी का उपयोग मिठाइयों, हलवा, खीर, बर्फी तथा आयुर्वेदिक औषधियों में व्यापक रूप से किया जाता है।
- उच्चवर्गीय उपभोक्ताओं में इसकी विशेष मांग होने के कारण इसका बाजार मूल्य अपेक्षाकृत स्थिर बना रहता है।
- बीजों से तेल निष्कर्षण कर अतिरिक्त आय अर्जित की जा सकती है, जिसका उपयोग कॉस्मेटिक एवं औषधीय उत्पादों में होता है।
- जैविक एवं वनों से प्राप्त उत्पादों की वैश्विक मांग में निरंतर वृद्धि हो रही है।
- उचित ग्रेडिंग, ब्रांडिंग एवं पैकेजिंग के माध्यम से चिरौंजी को अंतर्राष्ट्रीय बाजारों तक पहुँचाया जा सकता है।
- चिरौंजी को एग्रो-हॉर्टी मॉडल के अंतर्गत अरहर, सहजन, हल्दी एवं अदरक जैसी फसलों के साथ अंतरफसल के रूप में उगाकर दोहरा लाभ प्राप्त किया जा सकता है।
- कम सिंचाई, न्यूनतम उर्वरक एवं कीटनाशकों की आवश्यकता होने से उत्पादन लागत कम रहती है, जिससे शुद्ध लाभ अधिक होता है।

चुनौतियाँ

चिरौंजी की जानकारी वर्तमान में मुख्यत: आदिवासी समुदायों एवं सीमित शोधकर्ताओं तक ही सीमित है। अधिकांश किसानों में इसके प्रति जागरूकता का अभाव है। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं:

- कृषि विज्ञान केंद्रों एवं सरकारी योजनाओं के माध्यम से चिरौंजी संबंधी प्रचार-प्रसार सीमित रहा है। साथ ही इस पर आधारित शोध कार्य भी अपेक्षाकृत कम हैं तथा व्यावसायिक नर्सरियों का अभाव है।
- किसानों को चिरौंजी के बाजार मूल्य, मांग एवं लाभप्रदता की पर्याप्त जानकारी नहीं है, जिसके कारण वे इसकी खेती के प्रति आकर्षित नहीं होते।
- उन्नत उत्पादन तकनीक, पौध प्रबंधन, प्रसंस्करण एवं विपणन पर आधारित प्रशिक्षण कार्यक्रम बहुत सीमित हैं।
- चिरौंजी को अब भी एक वनोपज या जंगली वृक्ष के रूप में देखा जाता है, जिससे इसे व्यावसायिक फसल का दर्जा नहीं मिल पा रहा है।
- चिरौंजी का वृक्ष 5-7 वर्ष में फल देना प्रारंभ करता है। शुरुआती वर्षों में उत्पादन न होने के कारण छोटे एवं सीमांत किसान इसमें निवेश करने से हिचकते हैं। साथ ही अन्य फलदार पौधों की तुलना में इसकी नर्सरी व्यवस्था भी कमजोर है।

प्रसार हेतु समाधान

प्रशिक्षण एवं जागरूकता: कृषि विश्वविद्यालयों, वन विभाग एवं गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग से किसानों को चिरौंजी की वैज्ञानिक खेती, पौध प्रबंधन एवं प्रसंस्करण तकनीकों पर प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

सब्सिडी एवं वित्तीय सहायता: सरकार द्वारा कम ब्याज दर पर ऋण, सब्सिडी तथा गुणवत्तापूर्ण पौध सामग्री उपलब्ध करवाकर किसानों के प्रारंभिक निवेश का बोझ कम किया जा सकता है।

प्रसंस्करण इकाइयों की स्थापना: स्थानीय स्तर पर बीज छिलाई, सुखाने एवं पैकेजिंग के लिए लघु प्रसंस्करण इकाइयाँ स्थापित की जानी चाहिए, जिससे मूल्य संवर्धन और रोजगार सृजन संभव हो सके।

बाजार से जुड़ाव (मार्केट लिंकेज): सहकारी समितियों, किसान उत्पादक संगठनों एवं ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्म के माध्यम से चिरौंजी को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय बाजारों से जोड़ा जा सकता है।

अनुसंधान एवं विकास: चिरौंजी की उन्नत किस्मों, उच्च उत्पादक तकनीकों एवं बेहतर प्रसंस्करण विधियों पर अनुसंधान को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, जिससे उत्पादकता एवं गुणवत्ता में वृद्धि हो सके।

विपणन जैसे कार्य पारंपरिक ज्ञान के आधार पर किए जाते हैं। यह प्रक्रिया न केवल रोजगार के अवसर प्रदान करती है, बल्कि महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त बनाती है। चिरौंजी की गिरी की राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में बढ़ती मांग के कारण आदिवासी परिवारों को बेहतर आय प्राप्त होती है। इस प्रकार चिरौंजी का वृक्ष आर्थिक संबल के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरक्षण का भी प्रतीक बनता जा रहा है।

सरकारी एवं सामुदायिक सहयोग

बुंदेलखंड क्षेत्र में चिरौंजी की खेती को बढ़ावा देने में सरकारी एवं सामुदायिक सहयोग की महत्वपूर्ण भूमिका है। राष्ट्रीय कृषि विकास योजना, मनरेगा तथा वन-आधारित आजीविका योजनाओं के अंतर्गत चिरौंजी रोपण को प्रोत्साहित किया जा सकता है। वन विभाग द्वारा बंजर भूमि एवं वन क्षेत्रों में चिरौंजी रोपण हेतु विशेष अभियान चलाए

चिरौंजी की गिरी

गुच्छे में चिरौंजी

सारणी: बुंदेलखंड क्षेत्र में चिरौंजी में दर्ज प्रमुख गुणों की परिवर्तनशीलता

गुण	दर्ज सीमा
वृक्ष की ऊँचाई (मीटर)	5.00-11.20
वृक्ष का फैलाव (पूर्व-पश्चिम) मीटर)	3.30-6.20
वृक्ष का फैलाव (उत्तर-दक्षिण) (मीटर)	3.19-6.16
तने का घेरा (सें.मी.)	43.25-80.90
प्रति पुष्पगुच्छ औसत फूलों की संख्या	1954.06-3650.10
औसत फल उत्पादन (कि.ग्रा./वृक्ष)	12.76-30.50
औसत फल वजन (ग्राम)	0.89-1.20
औसत गूदा वजन (मि.ग्रा)	494-821
औसत गिरी वजन (मि.ग्रा)	46-95
गिरी प्रतिशत (%)	12.45-25.07
कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (ब्रिक्स)	19.00-25.25
कुल शर्करा (%)	13.02-15.48
विटामिन सी (मि.ग्रा/100 ग्राम)	45.34-63.31
वसा प्रतिशत (%)	52.56-68.31
गिरी प्रोटीन (%)	22.00-30.81
गिरी एंटीऑक्सीडेंट (%)	47.42-60.96

चिरौंजी का वृक्ष

जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त स्वयं सहायता समूहों, किसान उत्पादक संगठनों एवं सहकारी समितियों को सक्रिय रूप से जोड़कर स्थानीय समुदायों को संगठित किया जा सकता है, जिससे चिरौंजी आधारित मूल्य श्रृंखला को मजबूती मिल सके।

चिरौंजी में दर्ज विविधता

बुंदेलखंड क्षेत्र में चिरौंजी पर किए गए अनुसंधान अध्ययन के दौरान वृक्ष संरचना, पुष्पण, फलन तथा गिरी की गुणवत्ता से संबंधित विभिन्न गुणों में उल्लेखनीय परिवर्तनशीलता दर्ज की गई। यह विविधता भविष्य में उन्नत किस्मों के चयन एवं सुधार कार्यक्रमों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

बुंदेलखंड में चिरौंजी की खेती सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से एक क्रांतिकारी पहल सिद्ध हो सकती है। यह क्षेत्र अधिक तापमान एवं कम वर्षा वाला है, जहाँ चिरौंजी जैसी सूखा-सहिष्णु फसलें किसानों के लिए अत्यंत लाभकारी विकल्प बन सकती हैं। चिरौंजी की गिरी को बाजार में उच्च मूल्य मिलने से किसानों की आय में उल्लेखनीय वृद्धि संभव है।

इसके अतिरिक्त, चिरौंजी आधारित गतिविधियों जैसे फल संग्रहण, प्रसंस्करण एवं विपणन से आदिवासी एवं ग्रामीण समुदायों के लिए रोजगार के नए अवसर सृजित हो सकते हैं। विशेष रूप से ग्रामीण महिलाओं के लिए यह आय का एक स्थायी स्रोत बन सकता है। चिरौंजी पर आधारित लघु एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना से क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था को मजबूती मिलेगी तथा ग्रामीण क्षेत्रों से होने वाले पलायन में भी कमी आएगी।

इस प्रकार चिरौंजी की व्यावसायिक खेती बुंदेलखंड के समग्र सामाजिक-आर्थिक विकास की दिशा में एक सशक्त और स्थायी कदम साबित हो सकती है।

अलसी के बहुआयामी मूल्यवर्धित उत्पाद

अंजलि वर्मा[1], पी. के. मिश्रा[2] और **प्रेम शंकर[3]**

अलसी, जिसे फ्लैक्ससीड तथा साधारण बोलचाल की भाषा में तीसी भी कहा जाता है, सदियों से मानव आहार का अभिन्न हिस्सा रही है। यह एक सुपर फूड है, जो न केवल पोषण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, बल्कि औषधीय, औद्योगिक एवं पर्यावरण-अनुकूल उपयोगों के लिए भी उपयुक्त माना जाता है। परंपरागत रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में अलसी का उपयोग घरों में हलवा, लड्डू, चटनी और तेल के रूप में किया जाता रहा है, जो सर्दी से बचाव तथा शरीर को ऊर्जा प्रदान करने में सहायक माना जाता है। अलसी में ओमेगा-3 फैटी एसिड, लिग्नन, फाइबर तथा प्रोटीन जैसे जैव-सक्रिय यौगिक प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। ये तत्व न केवल हृदय स्वास्थ्य को बेहतर बनाते हैं, सूजन को नियंत्रित करते हैं और पाचन तंत्र को सुदृढ़ करते हैं, बल्कि खाद्य उद्योग, पशु पोषण, सौंदर्य प्रसाधन तथा पर्यावरण-अनुकूल उत्पादों के क्षेत्र में भी नई संभावनाएँ उत्पन्न कर रहे हैं। हालाँकि, यह विडंबना है कि ग्रामीण क्षेत्रों में, जहाँ अलसी का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में होता है, वहाँ इसके पोषण एवं औषधीय लाभों के प्रति जागरूकता का अभाव है। इसी कारण इसका उपयोग सीमित दायरे तक ही सिमट कर रह जाता है।

अलसी मुख्यत: रबी मौसम की फसल है। भारत में इसके प्रमुख उत्पादक राज्य मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र और राजस्थान हैं। इसकी औसत उत्पादन क्षमता 6-10 क्विंटल प्रति हैक्टर होती है, जो किस्म और फसल प्रबंधन पर निर्भर करती है। इसके बीज और तेल दोनों का व्यावसायिक उपयोग होता है तथा इसके बीजों में 35-45% तक तेल की मात्रा पाई जाती है।

अलसी की खेती के लिए हल्की दोमट मिट्टी तथा शीतोष्ण जलवायु सर्वाधिक उपयुक्त मानी जाती है। इसकी बुआई सामान्यत: अक्टूबर-नवंबर (रबी मौसम) में की जाती है। प्रति हैक्टर लगभग 20-25 कि.ग्रा. बीज की आवश्यकता होती है। बुआई से पहले बीजों का फफूंदनाशी से उपचार करना आवश्यक होता है, जिससे पौधे रोगों से सुरक्षित रह सकें। बेहतर उत्पादन के लिए नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाश की संतुलित मात्रा खेत में देना चाहिए। फसल की वृद्धि हेतु 2-3 सिंचाइयाँ पर्याप्त होती हैं, जिनमें फूल आने और दाना भरने की अवस्था पर विशेष ध्यान देना चाहिए। फसल की कटाई फरवरी-मार्च में की जाती है, जब पौधे पीले पड़ने लगते हैं और फलियाँ पककर सख्त हो जाती हैं।

मूल्यवर्धित व्यंजन

अलसी आधारित मूल्यवर्धित व्यंजन न केवल स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक विकल्प प्रदान करते हैं, बल्कि इनमें प्रचुर मात्रा में पाए जाने वाले ओमेगा-3 फैटी एसिड, रेशा और प्रोटीन रोग प्रतिरोधक क्षमता को भी मजबूत बनाते हैं। ये व्यंजन पारंपरिक स्वाद और आधुनिक पोषण का अनोखा संगम प्रस्तुत करते हैं। घरेलू स्तर पर बनाए जाने वाले कुछ पौष्टिक और स्वादिष्ट व्यंजन इस प्रकार हैं-

अलसी की स्मूदी

सामग्री: अलसी के बीज-1 बड़ा चम्मच (पीसकर), केला-1, दूध / सोया मिल्क-1 कप, शहद-1 छोटा चम्मच, दालचीनी पाउडर - ½ छोटा चम्मच

अलसी का हलवा

सामग्री: अलसी का पाउडर - 2 बड़े चम्मच, घी - 1 बड़ा चम्मच, गुड़ - 2 बड़े चम्मच, पानी - ½ कप, सूखे मेवे (बादाम, काजू) - 1 बड़ा चम्मच

बनाने की विधि: एक पैन में घी गर्म करें और अलसी पाउडर डालकर हल्का भूनें। गुड़ और पानी डालकर अच्छे से मिलाएँ। मिश्रण गाढ़ा होने तक पकाएँ। ऊपर से सूखे मेवे डालकर परोसें।

लाभ: हृदय स्वास्थ्य के लिए ओमेगा-3 और फाइबर से भरपूर।

वैज्ञानिक, गृह विज्ञान[1], कार्यालय प्रभारी[2], वैज्ञानिक पौध सुरक्षा[3] केवीके, बस्ती, आचार्य नरेन्द्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, कुमारगंज, अयोध्या

बनाने की विधि: सभी सामग्री को मिक्सर में डालकर अच्छे से मिलाएँ और ठंडा परोसें।

लाभ: फाइबर, ओमेगा-3 और विटामिन से भरपूर, सुबह के लिए आदर्श।

अलसी की एनर्जी बॉल

सामग्री: अलसी पाउडर–2 बड़े चम्मच, ओट्स – ½ कप, मूंगफली/बादाम का बटर–2 बड़े चम्मच, शहद–1 बड़ा चम्मच, किशमिश/डार्क चॉकलेट चिप्स–1 बड़ा चम्मच

बनाने की विधि: सभी सामग्री एक बर्तन में अच्छे से मिलाएँ। छोटे-छोटे गोले बनाकर ट्रे में रखें। फ्रिज में 30 मिनट रखें और फिर परोसें।

लाभ: स्नैक्स के रूप में त्वरित ऊर्जा, शाकाहारी और हेल्दी।

अलसी और दही का रायता

सामग्री: दही – 1 कप, भुने हुए अलसी के बीज – 1 छोटा चम्मच, कटा हुई खीरा – 1 कप, नमक और काली मिर्च –

सारणी 1: अलसी के पोषक एवं औषधीय गुण

पोषक तत्व / सक्रिय घटक	जैव-क्रियात्मक प्रभाव	स्वास्थ्य लाभ
ओमेगा-3 फैटी एसिड	सूजन रोधी, हृदय-सुरक्षात्मक, रक्तचाप नियंत्रण	हृदय स्वास्थ्य में सुधार, रक्त वसा में कमी, स्ट्रोक व हृदयाघात के जोखिम में कमी
लिगनान्स	एंटीऑक्सीडेंट, हार्मोन संतुलन	स्तन व प्रोस्टेट कैंसर के जोखिम में कमी, रजोनिवृत्ति लक्षण में राहत
आहारीय रेशा	पाचन तंत्र की सुरक्षा, ग्लाइसेमिक नियंत्रण	कब्ज से राहत, आंतों का स्वास्थ्य बेहतर, मधुमेह नियंत्रण, वजन प्रबंधन
प्रोटीन	उच्च गुणवत्ता वाला शाकाहारी एवं वीगन प्रोटीन स्रोत	मांसपेशियों का विकास, शाकाहारी आहार में प्रोटीन की पूर्ति
एंटीऑक्सीडेंट यौगिक	कोशिकाओं को ऑक्सीडेटिव स्ट्रेस से बचाना	बुढ़ापा धीमा करना, प्रतिरक्षा प्रणाली को मजबूत करना
खनिज तत्व	हड्डियों एवं स्नायु कार्य में सहयोग	हड्डियों की मजबूती, रक्तचाप नियंत्रण
म्यूसीलेज	आंतों की परत पर सुरक्षात्मक परत बनाना	गैस्ट्रिक अल्सर से बचाव, पाचन में सहायक

सारणी 2: अलसी के औद्योगिक उपयोग

उपयोग	विवरण	उत्पाद	उद्योग
आहार	अलसी पोषणयुक्त सामग्री के रूप में ब्रेड, दलिया, स्नैक बार आदि में प्रयोग होती है। बेकिंग में अंडे के शाकाहारी विकल्प के रूप में भी उपयोगी है।	अलसी का तेल, अलसी पाउडर	खाद्य उद्योग
वजन प्रबंधन	अलसी में पाए जाने वाले उच्च रेशे (फाइबर) से तृप्ति का अनुभव होता है, जिससे वजन नियंत्रित रखने में मदद मिलती है।	अलसी पाउडर	खाद्य उद्योग
वस्त्र उद्योग	अलसी के मजबूत और टिकाऊ रेशे कपड़ा, औद्योगिक सामग्री, बायोडिग्रेडेबल प्लास्टिक और पैकेजिंग सामग्री बनाने में उपयोग होते हैं।	अलसी रेशा	वस्त्र एवं मिश्रित पदार्थ उद्योग
पशु आहार	अलसी खल प्रोटीन और ओमेगा-3 फैटी एसिड से भरपूर होती है, जो पशुओं के लिए पूरक आहार है।	अलसी खली	कृषि उद्योग
सौंदर्य प्रसाधन	अलसी का तेल त्वचा और बालों को पोषण व नमी देने में सहायक है। इसे क्रीम, लोशन, शैम्पू और हेयर कंडीशनर में उपयोग किया जाता है।	अलसी का तेल	सौंदर्य व व्यक्तिगत देखभाल उद्योग
जैव ईंधन	अलसी का तेल बायोडीजल बनाने में कच्चे माल के रूप में प्रयोग होता है।	अलसी का तेल	ऊर्जा उद्योग
कागज उत्पादन	अलसी के रेशे से मजबूत और टिकाऊ कागज बनाया जाता है।	अलसी रेशा	कागज उद्योग
औद्योगिक कोटिंग्स	अलसी का तेल तेजी से सूखने और कठोर होने की क्षमता के कारण पेंट और कोटिंग बनाने में प्रयोग होता है।	अलसी का तेल, अलसी म्यूसिलेज	पेंट एवं कोटिंग उद्योग
निर्माण कार्य	अलसी के रेशे इन्सुलेशन और भवन निर्माण सामग्री को मजबूत बनाने में सहायक हैं।	अलसी रेशा	निर्माण उद्योग
मृदा शुद्धिकरण	अलसी का पौधा फाइटोरिमेडिएशन द्वारा मिट्टी से भारी धातुओं को हटाने में प्रयोग होता है।	अलसी पौधा	पर्यावरण संरक्षण उद्योग
ईंधन योजक	अलसी का तेल ईंधन में मिलाकर प्रदूषण कम करने और इंजन की कार्यक्षमता बढ़ाने में उपयोग किया जाता है।	अलसी का तेल	ऑटोमोबाइल व ऊर्जा उद्योग
चिकित्सा	अलसी का तेल सूजनरोधी दवा, त्वचा रोग उपचार और पोषण सप्लीमेंट में प्रयोग होता है। अलसी में पाए जाने वाले लिगनान्स कैंसर-रोधी क्षमता रखते हैं।	अलसी का तेल, अलसी बीज	चिकित्सा उद्योग

प्रोटीन पेनकेक्स

सामग्री: ओट्स पाउडर – 1 कप, अलसी पाउडर – 2 बड़े चम्मच, दही – ½ कप, दूध – ½ कप, शहद – 1 छोटा चम्मच, बेकिंग पाउडर – ½ छोटा चम्मच

विधि: सभी सामग्री मिलाकर घोल तैयार करें। तवा गर्म करके धीमी आंच पर पेनकेक्स पकाएँ। शहद या फल के साथ परोसें।

लाभ: प्रोटीन और ओमेगा-3 से भरपूर, नाश्ते के लिए उत्तम।

अलसी की खस्ता कचौरी

अलसी की रोटी

सामग्री: गेहूँ का आटा – 1 कप, भुना अलसी पाउडर – 2 बड़े चम्मच, नमक – ½ छोटा चम्मच, पानी – आवश्यकता अनुसार।

बनाने की विधि: आटे और अलसी पाउडर को नमक के साथ मिलाएँ। पानी डालकर नरम आटा गूँथें। छोटी-छोटी लोई बनाकर बेलन से बेलें। तवा गरम करके दोनों तरफ से सेंक लें। घी या दही के साथ परोसें।

स्वादानुसार, हरा धनिया – सजावट के लिए।

बनाने की विधि: दही में कटा हुआ खीरा और भुना अलसी पाउडर मिलाएँ। नमक, काली मिर्च डालकर अच्छे से मिलाएँ। हरा धनिया डालकर सजाएँ।

लाभ: पाचन स्वास्थ्य में सहायक और फाइबर से भरपूर।

अलसी के लड्डू

सामग्री: भुने हुए अलसी के बीज – ½ कप (पीसकर पाउडर), गुड़ – ½ कप (कद्दूकस किया हुआ), नारियल का बूरा – ½ कप, घी – 2 बड़े चम्मच, काजू, बादाम – 2 बड़े चम्मच (कटा हुआ)

बनाने की विधि: सबसे पहले पैन में घी गर्म करें। इसमें गुड़ और नारियल डालकर हल्का पिघलाएँ। साथ ही इसमें भुना अलसी पाउडर और कटे मेवे डालें। मिश्रण गाढ़ा होने पर हाथ से छोटे-छोटे लड्डू बनाएँ। ठंडा होने पर एयरटाइट डिब्बे में रखें।

लाभ: ऊर्जा देने वाला स्नैक, फाइबर और ओमेगा-3 से भरपूर।

सारणी 3: अलसी के बहुआयामी उपयोग एवं संभावनाएँ

क्षेत्र	उपयोग/अनुप्रयोग	विवरण
न्यूट्रास्यूटिकल प्रगति	कार्यात्मक खाद्य पदार्थ (फंक्शनल फूड्स)	अलसी को ऐसे फंक्शनल और पूरक आहार में शामिल किया जा सकता है जो वजन प्रबंधन, पाचन स्वास्थ्य और हृदय रोग निवारण जैसे विशेष स्वास्थ्य लाभ प्रदान करते हैं।
जैव सक्रिय यौगिक (बायोएक्टिव कंपाउंड्स) पृथक्करण	विशिष्ट जैव सक्रिय यौगिक	शोधकर्ता अलसी के विशिष्ट जैव सक्रिय घटकों को अलग करके उनकी चिकित्सीय क्षमता को बेहतर समझ सकते हैं।
व्यक्तिगत पोषण	न्यूट्रिजेनोमिक्स	आनुवांशिक संरचना और स्वास्थ्य स्थिति के आधार पर व्यक्तिगत आहार सिफारिशें देने में अलसी की भूमिका हो सकती है।
खाद्य उद्योग	पादप-आधारित उत्पाद	अलसी बेकरी उत्पादों, डेरी और मांस विकल्पों में एक प्रमुख घटक के रूप में उपयोगी हो सकती है।
क्लीन लेबलिंग	प्राकृतिक स्रोत	अलसी फाइबर, ओमेगा-3 फैटी एसिड और एंटीऑक्सीडेंट का स्रोत होने के कारण उपभोक्ताओं की प्राकृतिक और न्यूनतम प्रसंस्करित आहार की मांग को पूरा करती है।
नवीन उत्पाद विकास	नए खाद्य और पेय पदार्थ	खाद्य वैज्ञानिक अलसी से नए पेय, खाद्य और मसालेदार उत्पाद विकसित कर सकते हैं।
औद्योगिक उपयोग	जैव निम्नीकरण (बायोडिग्रेडेबल) सामग्री	अलसी के रेशों से बायोडिग्रेडेबल पॉलिमर और कंपोजिट तैयार किए जा सकते हैं, जिससे प्लास्टिक प्रदूषण की समस्या कम होगी।
जैव ईंधन उत्पादन	नवीकरणीय ऊर्जा	अलसी को बायोफ्यूल उत्पादन हेतु संभावित कच्चे माल के रूप में उपयोग कर ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन कम करना।

लाभ: दैनिक आहार में ओमेगा-3 और फाइबर की आसान आपूर्ति।

अलसी उत्पादन और उपयोग की चुनौतियाँ

अलसी से संबंधित सबसे बड़ी चुनौती इसकी ऑक्सीडेटिव अस्थिरता है, जिसके कारण अलसी का तेल जल्दी खराब हो जाता है और इसकी शेल्फ-लाइफ कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त, प्रसंस्करण दक्षता भी एक प्रमुख समस्या है क्योंकि अलसी में उपस्थित जैव-सक्रिय यौगिकों को निकालने के लिए आधुनिक और उन्नत तकनीकों की आवश्यकता होती है। साथ ही, अलसी के पोषण और औषधीय लाभों के बारे में अभी भी लोगों में पर्याप्त जानकारी नहीं है। इसलिए उपभोक्ता जागरूकता बढ़ाना भी एक महत्वपूर्ण चुनौती है, ताकि अधिक से अधिक लोग इसे अपने आहार और जीवनशैली में शामिल कर सकें।

अलसी खाद्य, स्वास्थ्य, सौंदर्य और पर्यावरणीय उद्योगों में एक सतत कृषि की सुपरक्रॉप बनने की अपार संभावनाएँ रखती है। निरंतर अनुसंधान और नवाचार इसे वैश्विक स्वास्थ्य और पर्यावरण-अनुकूल उत्पादों में अग्रणी बना रहे हैं। यह केवल पोषण का स्रोत ही नहीं, बल्कि औषधीय, औद्योगिक और पर्यावरणीय क्रांति का भी आधार है।

आधुनिक तकनीकों और उपभोक्ता जागरूकता के माध्यम से अलसी वैश्विक स्वास्थ्य, पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने में सक्षम है।

नवीन

हिमालयी स्वदेशी सब्जी-तरड़ी का उत्पादन

निखिल ठाकुर[1], जसदीप कौर[2] और दीपा शर्मा[1]

हिमाचल प्रदेश जैव विविधता से समृद्ध राज्य है, जहाँ अनेक जंगली फल एवं सब्जियाँ पाई जाती हैं। ये न केवल ग्रामीण एवं गरीब वर्ग की पोषण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, बल्कि उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन सब्जियों की राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में अच्छी मांग होने के बावजूद, अधिकांश उत्पाद वर्तमान में स्थानीय बाजारों तक ही सीमित हैं। इन्हीं पारंपरिक सब्जियों में से एक महत्वपूर्ण भूमिगत सब्जी "तरड़ी" है। हिमाचल प्रदेश में तरड़ी एक लोकप्रिय कंदीय सब्जी है, जिसका उपयोग खाद्य एवं औषधीय दोनों दृष्टियों से किया जाता है। इसके पोषक गुणों और औषधीय महत्व को देखते हुए इसकी खेती को बढ़ावा देना आवश्यक है। इसके लिए उन्नत कृषि प्रौद्योगिकियों के विकास, वैज्ञानिक उत्पादन तकनीकों के प्रसार तथा उत्पाद के प्रसंस्करण एवं मूल्य संवर्धन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

ग्रामीण समुदायों के आहार में पारंपरिक सब्जियाँ विविधता लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये न केवल पोषण एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी हैं, बल्कि स्थानीय सामाजिक-आर्थिक प्रणालियों की स्थिरता को भी बनाए रखने में सहायक हैं। वर्तमान समय में स्वस्थ आहार के प्रति बढ़ती जागरूकता के कारण, विशेषकर विकासशील देशों के बाजारों में जैविक एवं प्राकृतिक खाद्य उत्पादों की मांग तेजी से बढ़ रही है।

लघु एवं सीमांत किसानों के लिए कम अनुकूल पर्यावरणीय परिस्थितियों में अतिरिक्त आय अर्जित करने हेतु तरड़ी जैसी पारंपरिक सब्जियों को व्यावसायिक फसलों के साथ अंतरफसल के रूप में उगाया जा सकता है। यह फसल कम लागत में तैयार होती है तथा अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्रदान करती है। कम ज्ञात किंतु आर्थिक रूप से संभावनाशील सब्जियों में तरड़ी का स्थान महत्वपूर्ण है। इसकी खेती वर्तमान में हिमाचल प्रदेश के कुछ चुनिंदा क्षेत्रों में की जा रही है। उचित तकनीकी मार्गदर्शन और बाजार से जुड़ाव के माध्यम से इसे एक लाभकारी नकदी फसल के रूप में विकसित किया जा सकता है।

तरड़ी के वानस्पतिक नाम को लेकर अभी भी पर्याप्त भ्रम बना हुआ है, क्योंकि इस पौधे पर विस्तृत एवं मानकीकृत वनस्पति वर्गीकरण संबंधी अध्ययन सीमित हैं। तथापि, इसकी आकृतिक संरचना (मॉर्फोलॉजी) एवं जीवन चक्र के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि यह पौधा डायोस्कोरिया वंश से संबंधित है। विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा इसे अलग-अलग वैज्ञानिक नाम दिए गए हैं, जिनमें प्रमुख रूप से डायोस्कोरिया बेलोफायला, डायोस्कोरिया अलाटा, डायोस्कोरिया न्यूम्मुलैरिफोलिया तथा डायोस्कोरिया ग्लाब्रा शामिल हैं।

तरड़ी डायोस्कोरेसी कुल की सदस्य है और इसे सामान्यतः "हिमालयन रतालू" के नाम से भी जाना जाता है। इस पौधे की पत्तियाँ हृदयाकार (दिल के आकार की) होती हैं, जो इसकी पहचान का प्रमुख लक्षण हैं।

प्राकृतिक अवस्था में तरड़ी प्रायः वनों में वृक्षों की छाया के नीचे तथा ढलान वाली भूमि पर उगती है। यह पौधा छायादार वातावरण और जैविक पदार्थ से भरपूर, भुरभुरी एवं अच्छी जल निकास वाली मिट्टी में बेहतर वृद्धि करता है। इन विशेषताओं के कारण यह पर्वतीय एवं वन क्षेत्र की पारिस्थितिकी के अनुकूल एक महत्वपूर्ण कंदीय फसल के रूप में उभर रही है।

खाद्य उपयोग

तरड़ी के कंद अंदर से भुरभुरे, दूधिया सफेद एवं हल्के चिपचिपे होते हैं। कच्ची

विभिन्न आकार में तरड़ी कंद

औषधीय महत्व

तरड़ी का उपयोग विभिन्न रोग अवस्थाओं जैसे अल्सर, दर्दयुक्त घाव, ऐंठन (स्पैज्म), पेचिश, मधुमेह तथा कैंसर जैसी गंभीर स्थितियों में पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में किया जाता रहा है। इसके कंदों में पाए जाने वाले जैव-सक्रिय घटक एंटीऑक्सीडेंट, एंटीइंफ्लेमेटरी, एंटीबैक्टीरियल एवं रोग प्रतिरोधक गतिविधियाँ प्रदर्शित करते हैं। इसके कंदों का रस गर्म पानी के साथ सेवन करने से बुखार, मलेरिया, सिरदर्द एवं पेचिश जैसी समस्याओं में राहत मिलती है। यही कारण है कि पहाड़ी क्षेत्रों में इसे एक महत्वपूर्ण औषधीय कंदीय फसल के रूप में माना जाता है।

[1]डॉ यशवन्त सिंह परमार औद्यानिकी एवं वानिकी विश्वविद्यालय नौणी, सोलन (हिमाचल प्रदेश); [2]चौधरी सरवण कुमार हिमाचल प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय, पालमपुर, कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)

तरड़ी के पत्ते

अवस्था में ये कुरकुरे होते हैं तथा इनमें स्टार्चयुक्त स्वाद पाया जाता है। कंदों का सेवन मुख्य रूप से भूनकर अथवा तलकर किया जाता है। इनका उपयोग सूखी सब्जी के साथ-साथ करी बनाने में भी किया जाता है।

तरड़ी के कंदों से अनेक पारंपरिक व्यंजन तैयार किए जाते हैं, जैसे कचौरी, बड़ियाँ, पराठा तथा अन्य स्थानीय व्यंजन। ऑफ-सीजन उपयोग के लिए इन्हें संरक्षित करने हेतु अचार भी बनाया जाता है, जिससे इनकी उपलब्धता वर्ष भर बनी रहती है।

प्रवर्धन

तरड़ी का प्रसारण मुख्य रूप से एरियल बल्बिल (हवाई कंदिकाएँ) अथवा भूमिगत कंदों के माध्यम से किया जाता है। इसकी कटाई टिकाऊ पद्धति से करना अत्यंत आवश्यक है, जिससे प्राकृतिक आवास चक्र बना रहे तथा भविष्य में पुनर्जनन संभव हो सके।

ग्रामीण समुदाय इस कार्य में काफी दक्ष हैं। वे वनों में प्रकृति को प्रभावित किए बिना चयनात्मक कटाई करते हैं तथा पुनर्जनन को प्रोत्साहित करते हैं। सामान्यत: कंदों को मूल अंकुर से कुछ सेंटीमीटर ऊपर से काटा जाता है और शेष भाग को बेल के साथ पुन: उगने के लिए छोड़ दिया जाता है, जिससे अगले मौसम में नई वृद्धि सुनिश्चित होती है।

मिट्टी के घड़ों में तरड़ी

उत्पादन तकनीक

तरड़ी की खेती अगस्त-सितंबर माह के दौरान लताओं पर लगने वाली कंदिका (एरियल बल्बिल) अथवा भूमिगत कंदों के माध्यम से आसानी से की जा सकती है। इसकी खेती की एक प्रमुख चुनौती यह है कि इसके कंद मिट्टी में अत्यधिक गहराई तक विकसित होते हैं, जिससे खुदाई एवं कटाई श्रमसाध्य हो जाती है।

इसी समस्या के समाधान के लिए तरड़ी को कंटेनर, कंक्रीट के गमले, मिट्टी के घड़े अथवा ड्रमों में उगाया जा सकता है। सामान्य परिस्थितियों में इसके कंद मिट्टी में लगभग 2-3 मीटर तक गहराई में प्रवेश कर सकते हैं। किंतु खेती के समय स्लेट या सपाट पत्थर की परत लगभग 40-50 सें.मी. गहराई पर बिछाने से कंदों की नीचे की ओर वृद्धि सीमित हो जाती है, जिससे कटाई के समय कंदों को आसानी से निकाला जा सकता है।

बढ़ते हुए पौधों को सहारा देने के लिए स्टेकिंग विधि अपनाई जा सकती है अथवा उन्हें जमीन पर फैलने दिया जा सकता है। हालांकि, स्टेकिंग विधि अपनाने से प्रकाश का बेहतर उपयोग होता है, वायु संचार बढ़ता है तथा उपज में वृद्धि होती है। इस विधि में बेलों को खड़े खंभों या तार के ढाँचे से बाँध दिया जाता है, जिससे पौधों को उचित सहारा मिलता है और उनकी वृद्धि संतुलित बनी रहती है।

कटाई

तरड़ी के कंदों का आकार एवं आकृति पौधे की आयु तथा मिट्टी की बनावट के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। सामान्यत: इसकी कटाई बुआई के लगभग 3 वर्ष बाद फावड़े अथवा कुदाल की सहायता से की जाती है। औसतन कंदों का व्यास लगभग 8 सें.मी. तथा मोटाई लगभग 5 सें.मी. पाई जाती है।

जमीन की सतह से लगभग 50 सें. मी. गहराई पर पहुँचने के बाद कंदों का मोटा होना प्रारंभ हो जाता है। इसकी जड़ें सामान्यत: मिट्टी में सीधी नीचे की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति रखती हैं और यदि किसी कठोर परत या पत्थर से अवरोध न हो, तो ये 2-3 मीटर तक गहराई में प्रवेश कर सकती हैं। इस विशेष वृद्धि प्रवृत्ति के कारण तरड़ी की खुदाई श्रमसाध्य, शारीरिक रूप से कठिन तथा अपेक्षाकृत अधिक लागत वाली होती है। वर्तमान में प्राय: सर्दियों के मौसम में स्थानीय ग्रामीण समुदायों द्वारा वनों से इसकी कटाई की जाती है, जो पारंपरिक अनुभव एवं कौशल पर आधारित होती है।

तरड़ी के कंद

भंडारण

यद्यपि तरड़ी के कंद अपेक्षाकृत कम खराब होने वाले होते हैं, फिर भी सफल भंडारण के लिए उचित प्रबंधन अत्यंत आवश्यक है। कंदों के सुरक्षित भंडारण की दक्षता कई कारकों पर निर्भर करती है, जिनमें किस्म, सापेक्षिक आर्द्रता, तापमान तथा कंदों की भौतिक अवस्था प्रमुख हैं। पारंपरिक भंडारण विधियाँ स्थानीय पारिस्थितिकी एवं रतालू की उपज प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। सामान्यत: कंदों को फर्श पर ढेर बनाकर या शेड के भीतर शेल्फ पर रखा जाता है। कुछ क्षेत्रों में गोलाकार या आयताकार गड्ढे खोदकर उनमें कंदों को भर दिया जाता है तथा ऊपर से रेत या सूखी मिट्टी की परत डालकर ढक दिया जाता है, जिससे नमी संतुलन बना रहता है और सड़न की संभावना कम होती है। भंडारण से पूर्व कंदों का उचित उपचार किया जाना चाहिए तथा केवल स्वस्थ एवं रोग मुक्त कंदों का ही चयन भंडारण के लिए करना चाहिए। भंडारण अवधि के दौरान पर्याप्त वायु संचार सुनिश्चित करना, कंदों का नियमित निरीक्षण करना तथा सड़े या संक्रमित कंदों को समय रहते अलग करना अनिवार्य है।

उपज

तरड़ी की उपज पौधे की आयु के साथ क्रमश: बढ़ती जाती है। सामान्यत: रोपण के एक वर्ष बाद प्रति पौधा लगभग 3-4 कि.ग्रा. कंद उत्पादन प्राप्त होता है। वहीं, पौधे की आयु पाँच वर्ष होने पर उपज बढ़कर लगभग 8-10 कि.ग्रा. प्रति पौधा तक पहुँच सकती है।

जम्मू-कश्मीर के पहाड़ी क्षेत्रों में उपयोगी-गुच्छी मशरूम

सचिन गुप्ता[1], **हेमा त्रिपाठी**[2], **मोनी गुप्ता**[3] और **मेघा अबरोल**[4]

भारत में स्थानीय रूप से गुच्छी कहलाने वाली मोरेल्स प्रजाति एक अत्यधिक मूल्यवान जंगली मशरूम है, जो अपने सांद्र स्वाद, पोषण-समृद्धि और औषधीय गुणों के लिए प्रसिद्ध है। यह कवक प्राकृतिक रूप से शीतोष्ण वनों में, विशेषकर शंकुधारी वृक्षों के साथ सहजीवी संबंध में उगता है और विशिष्ट जलवायु परिस्थितियों में मौसमी रूप से दिखाई देता है। जम्मू-कश्मीर सहित हिमालयी क्षेत्रों में गुच्छी मशरूम का गहरा सांस्कृतिक महत्व है तथा यह ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान देता है। इन्हें पारंपरिक रूप से जंगलों से एकत्रित कर सुखाया जाता है और घरेलू व अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में उच्च कीमतों पर बेचा जाता है। प्रोटीन, विटामिन, खनिज और जैव-सक्रिय यौगिकों से समृद्ध होने के कारण इन्हें स्वादिष्ट व्यंजनों के साथ-साथ पारंपरिक औषधीय उपयोगों के लिए भी महत्व दिया जाता है। इस प्रकार गुच्छी मशरूम पारिस्थितिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण गैर-लकड़ी वन उत्पाद माने जाते हैं

जंगली खाद्य कवक सदियों से मानव आहार और पारंपरिक चिकित्सा का अभिन्न अंग रहे हैं। इनमें मोरेल्स का एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि ये स्वादिष्ट व्यंजन और औषधीय संसाधन दोनों के रूप में उपयोग किए जाते हैं। उनकी विशिष्ट हनीकॉम्ब-नुमा टोपी और समृद्ध सांद्र स्वाद ने उन्हें फ्रांस से लेकर चीन तक की पाक परंपराओं में विशेष प्रतिष्ठा दिलाई है।

यूरोप में मध्य-युगीन काल से ही मोरेल्स का सेवन किया जाता रहा है। फ्रांस, इटली और जर्मनी के व्यंजनों में यह एक विशेष सामग्री मानी जाती है, जहाँ इन्हें प्रायः क्रीम-आधारित सॉस और वाइन के साथ परोसा जाता है।

उत्तरी अमेरिका में जंगलों से मोरेल्स का संग्रहण एक मौसमी सांस्कृतिक गतिविधि के रूप में विकसित हो चुका है। प्रत्येक वसंत ऋतु में मशरूम प्रेमी जंगलों में जाकर इनका संग्रह करते हैं और इस परंपरा को उत्सव की तरह मनाते हैं।

मलाईदार सफेद गुच्छी

वानस्पतिक वर्णन

मोर्चेला वंश एस्कोमाइकोटा संघ के अंतर्गत मोरचेलेसिए कुल से संबंधित है। इन मशरूमों की पहचान उनकी स्पंजी एवं धारदार हनीकॉम्ब जैसी टोपी, खोखले तने तथा अनियमित और मायावी फलन-प्रवृत्ति से होती है, जो इन्हें अन्य जंगली कवकों से अलग बनाती है। टोपी का रंग आयु और पर्यावरणीय परिस्थितियों के अनुसार मलाईदार पीले से गहरे भूरे रंग तक परिवर्तित हो सकता है।

अधिकांश कृत्रिम रूप से उगाए जाने वाले मशरूमों के विपरीत, मोर्चेला का जीवन-चक्र जटिल होता है और यह विशिष्ट पारिस्थितिक संकेतों पर निर्भर करता है, जिसके कारण इसकी व्यावसायिक खेती अभी भी चुनौतीपूर्ण मानी जाती है। इस मशरूम का तना खोखला तथा सफेद क्रीम रंग का होता है। पूरा फलन-शरीर नाजुक होता है, इसलिए

[1]प्रोफेसर एवं इंचार्ज मशरूम यूनिट, [2]सह निदेशक, प्रसार, [3]विभागाध्यक्ष, जीव रसायन विभाग,
[4]शोध छात्रा, पादप व्याधि विज्ञान विभाग, शेर-ए-कश्मीर कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय-जम्मू

संग्रहण के दौरान सावधानीपूर्वक प्रबंधन आवश्यक होता है।

इसके बीजाणु सामान्यत: दीर्घवृत्ताकार, चिकने और पारदर्शी होते हैं, जो एस्कस में विकसित होते हैं। यह एस्कोमाइकोटा संघ के कवकों की एक प्रमुख विशेषता है।

रूपात्मक वर्गीकरण

जम्मू और कश्मीर में मोरेल्स को स्थानीय स्तर पर प्राय: तीन पारंपरिक प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है।

- **काली गुच्छी:** यह प्राय: देवदार के वृक्षों के नीचे पाई जाती है। इसका आकार अपेक्षाकृत छोटा तथा रंग गहरा होता है।
- **भूरी गुच्छी:** यह घने जंगलों से लेकर गांवों के आसपास के क्षेत्रों तक विभिन्न स्थानों पर मिल जाती है। सुखाने पर यह अधिक सिकुड़ जाती है।
- **मलाईदार सफेद गुच्छी:** यह आकार में बड़ी होती है और मौसम के अंत में दिखाई देती है। सुखाने पर इसके भार में अपेक्षाकृत कम कमी आती है।

इनकी दुर्लभता और उच्च मांग के कारण मोरेल्स को दुनिया के सबसे महंगे जंगली मशरूमों में गिना जाता है। पाक-कला संबंधी विशेषताओं के अतिरिक्त, मोरेल्स में एंटीऑक्सीडेंट, पॉलीसैकेराइड तथा आवश्यक खनिजों सहित अनेक जैव-सक्रिय यौगिक पाए जाते हैं, जिससे वे पोषण और औषधीय अनुसंधान के लिए महत्वपूर्ण बन गए हैं।

परंपरागत रूप से चीन की हर्बल चिकित्सा में इनका उपयोग पाचन स्वास्थ्य सुधारने के लिए किया जाता रहा है।

आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों में भी इनमें सूजनरोधी तथा अन्य संभावित औषधीय गुणों की पहचान की गई है। इस प्रकार, मोर्चेला प्रजातियाँ पाक-कला और औषधीय दोनों क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं

वैश्विक वितरण और पारिस्थितिकी

मोरेल्स का वितरण यूरोप, उत्तरी अमेरिका और एशिया के समशीतोष्ण क्षेत्रों में व्यापक रूप से पाया जाता है। पारिस्थितिक दृष्टि से मोरेल्स कार्बनिक पदार्थ से समृद्ध तथा अच्छी जल-निकास वाली मिट्टी में उगते हैं और प्राय: चीर (पाइन), देवदार, सेब तथा अन्य बड़े वृक्षों के साथ

पौष्टिक काली गुच्छी

गुणकारी भूरी गुच्छी

संबंध में पाए जाते हैं। ये शीतोष्ण जलवायु में एक स्पष्ट शीत अवधि के बाद, जब तापमान बढ़ता है और पर्याप्त नमी उपलब्ध होती है, सामूहिक रूप से फलन करते हैं।

मोरेल्स सामान्यत: कोनिफर तथा चौड़ी पत्तियों वाले वृक्षों के प्रभुत्व वाले शीतोष्ण वनों में उगते हैं। हाल ही में जले हुए वन क्षेत्रों या अन्य प्रकार से प्रभावित स्थलों पर इनकी उत्पादकता अधिक देखी गई है, जहाँ मृदा रसायन में परिवर्तन और अन्य कवकों से अपेक्षाकृत कम प्रतिस्पर्धा होती है। इनके उगने का मौसम भौगोलिक स्थिति के अनुसार बदलता है, किंतु उत्तरी गोलार्द्ध में सामान्यत: मार्च से जून के बीच इनका प्रादुर्भाव होता है।

भारत में मोरेल्स मुख्य रूप से हिमालयी क्षेत्र में पाए जाते हैं, जिनमें जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड तथा पूर्वोत्तर के कुछ भाग शामिल हैं। इन राज्यों में जम्मू-कश्मीर उच्च गुणवत्ता वाले गुच्छी मशरूम के उत्पादन के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। डोडा और किश्तवाड़ जिले तथा कश्मीर घाटी के वन इसके प्रमुख संग्रहण क्षेत्र हैं।

गुच्छी को डुग्गर और कश्मीरी व्यंजनों में एक स्वादिष्ट व्यंजन माना जाता है, जिसे प्राय: मसालों और क्रीम के साथ ग्रेवी में पकाया जाता है। हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड में त्योहारों और विवाह समारोहों के दौरान इन्हें उपहार के रूप में भी दिया जाता है। उच्च बाजार मूल्य के कारण गुच्छी एक महत्वपूर्ण गैर-लकड़ी वन उत्पाद है, जो ग्रामीण आजीविका में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

स्थानीय समुदायों के पास इस मशरूम की पहचान और संग्रहण से जुड़ा समृद्ध पारंपरिक ज्ञान है। मशरूम एकत्रक सर्दियों की बर्फबारी, वसंत ऋतु की वर्षा और कभी-कभी सुबह की गरज-चमक जैसे पर्यावरणीय संकेतों को अच्छे गुच्छी मौसम के संकेतक के रूप में देखते हैं। इसकी पहचान मुख्यत: स्पंजी हनीकॉम्ब-नुमा टोपी, रंग विविधता और उगने के स्थान के आधार पर की जाती है।

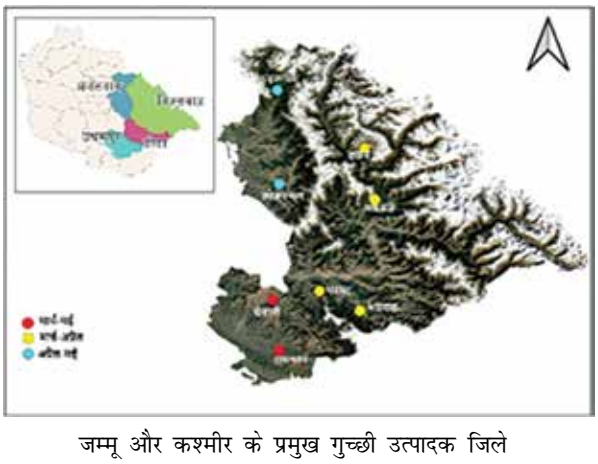

जम्मू और कश्मीर के प्रमुख गुच्छी उत्पादक जिले

पोषण और औषधीय मूल्य

गुच्छी के पोषक घटक इसे एक अत्यंत मूल्यवान आहार बनाते हैं। इसमें उच्च गुणवत्ता वाले प्रोटीन, आवश्यक अमीनो अम्ल, आहार-रेशा (फाइबर), विटामिन डी, विटामिन बी-कॉम्प्लेक्स तथा विटामिन सी सहित अनेक पोषक तत्व पाए जाते हैं। औषधीय दृष्टि से गुच्छी में एंटीऑक्सीडेंट, एंटीमाइक्रोबियल, प्रतिरक्षा-उत्तेजक (इम्यूनोस्टिमुलेटरी) तथा सूजनरोधी (एंटी-इंफ्लेमेटरी) गुण पाए गए हैं। इनमें उपस्थित जैव-सक्रिय यौगिक, जैसे फेनोलिक्स, टोकोफेरोल्स, कार्बनिक अम्ल और पॉलीसैकेराइड, इन स्वास्थ्यवर्धक प्रभावों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में गुच्छी का उपयोग पाचन सुधारने, शरीर की ऊर्जा और जीवन-शक्ति बढ़ाने तथा रोग से उबरने में सहायक आहार के रूप में किया जाता रहा है।

सारणी : मोरचेला एस्कुलेन्टा की पोषण संरचना (प्रति 100 ग्राम सूखा वजन)

घटक	मात्रा	घटक	मात्रा
शक्ति	325 किलो कैलोरी	वसा	3 ग्राम
प्रोटीन	32 ग्राम	विटामिन डी	206 आईयू
कार्बोहाइड्रेट	50 ग्राम	आयरन	12 मिलीग्राम
फाइबर	8 ग्राम	पोटेशियम	510 मिलीग्राम

पारंपरिक ज्ञान और संग्रहण

जम्मू-कश्मीर में गुच्छी की पहचान और संग्रहण से जुड़ा ज्ञान पीढ़ियों से हस्तांतरित होता आ रहा है। परिवार के बुजुर्ग युवा सदस्यों को यह सिखाते हैं कि स्पंजी टोपी वाली गुच्छी को कैसे पहचानें, उसे विषैले हमशक्ल कवकों से कैसे अलग करें और इसके प्राकृतिक आवासों को कैसे समझें। गुच्छी का संग्रहण एक सामुदायिक गतिविधि के रूप में देखा जाता है, जिसमें महिलाएँ और बच्चे प्राय: जंगल की झाड़ियों तथा निकटवर्ती क्षेत्रों से इन्हें एकत्रित करते हैं, जबकि पुरुष अपेक्षाकृत गहरे जंगलों में जाकर खोज करते हैं। सुबह का समय गुच्छी संग्रह के लिए सबसे उपयुक्त माना जाता है, जब गाँव की टोलियाँ बड़े क्षेत्रों में व्यवस्थित रूप से इन मशरूमों को खोजती और एकत्रित करती हैं।

सुखाने के उपरांत प्रबंधन

गुच्छी के संरक्षण के लिए पारंपरिक रूप से तीन प्रमुख सुखाने की विधियों का उपयोग किया जाता है।

- कपड़े या बाँस की चटाई पर धूप में फैलाकर सुखाना।
- मशरूम को धागे में पिरोकर माला के रूप में बाहर लटकाकर सुखाना।
- रसोई के धुएँ में घर के भीतर गुच्छी को सुखाना।

इन विधियों से गुच्छी को लंबे समय तक सुरक्षित रूप से भंडारित किया जा सकता है। सूखी गुच्छी को उसके सांद्र स्वाद, हल्के वजन और लंबे भंडारण जीवन के कारण अधिक पसंद किया जाता है, जिससे इसका परिवहन और विपणन भी आसान हो जाता है।

गुच्छी के विषैले समानरूप कवकों की पहचान

गुच्छी एक खाद्य मशरूम है, फिर भी इसकी कुछ सतही समानताएँ विषाक्त या संभावित रूप से हानिकारक कवकों जैसे वर्पा और गाइरोमित्रा प्रजातियाँ से मिलती हैं। इसलिए मशरूम एकत्रकों के लिए इसकी सही पहचान अत्यंत महत्वपूर्ण होती है।

वास्तविक गुच्छी मशरूम में स्पष्ट गड्ढों और लकीरों वाली हनीकॉम्ब-नुमा टोपी होती है, जो अपने आधार पर तने से पूरी तरह जुड़ी रहती है। टोपी और तना दोनों का आंतरिक भाग सिरे से आधार तक पूरी तरह खोखला होता है, जो मोर्चेला की एक विश्वसनीय पहचान है।

इसके विपरीत, वर्पा प्रजातियों में, जिन्हें अक्सर "झूठी गुच्छी" कहा जाता है, टोपी चिकनी या झुर्रियों वाली होती है और तने के ऊपर स्वतंत्र रूप से लटकती हुई दिखाई देती है। यह केवल शीर्ष पर तने से जुड़ी होती है तथा तना प्राय: पूरी तरह खोखला न होकर अंदर से झुर्रियों वाला या कक्षीय होता है।

गुच्छी से मिलती-जुलती एक अन्य मशरूम गाइरोमित्रा प्रजाति है, जिसकी टोपी सममित मधुकंघा संरचना के बजाय अनियमित रूप से मुड़ी हुई, खंडदार या मस्तिष्क जैसी आकृति की होती है। इनमें जिरोमिट्रिन जैसे विषाक्त यौगिक पाए जाते हैं, जो सेवन करने पर गंभीर बीमारी या मृत्यु का कारण बन सकते हैं। गुच्छी का रंग सामान्यत: हल्के पीले से भूरे तक होता है, जबकि गाइरोमित्रा प्रजातियाँ प्राय: लाल-भूरे से गहरे भूरे रंग की दिखाई देती हैं।

इस प्रकार, सुरक्षित संग्रहण के लिए मशरूम एकत्रक टोपी की संरचना, तने के साथ उसका जुड़ाव और आंतरिक खोखलेपन जैसे प्रमुख लक्षणों के आधार पर वास्तविक गुच्छी को उसके भ्रामक और कभी-कभी हानिकारक समानरूप कवकों से अलग पहचानते हैं।

सूखी हुई गुच्छी

चुनौतियाँ

गुच्छी के प्राकृतिक उत्पादन के सामने कई चुनौतियाँ हैं। इनमें अत्यधिक संग्रहण के कारण संसाधनों का दोहन, वनोन्मूलन तथा जलवायु परिवर्तन के प्रभाव से उत्पादन क्षेत्र, मात्रा और फलन-समय में परिवर्तन प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त, पारंपरिक मशरूम-संग्रहण कौशल सीखने में युवा पीढ़ी की घटती रुचि भी इस ज्ञान की निरंतरता के लिए एक गंभीर चुनौती है।

व्यवस्थित संसाधन आकलन की कमी भी एक महत्वपूर्ण समस्या है, जिसके कारण गुच्छी के वास्तविक उत्पादन और उपलब्धता का सटीक अनुमान लगाना कठिन होता है। सतत उपयोग सुनिश्चित करने के लिए वैज्ञानिक संग्रहण विधियों, फसलोपरांत प्रबंधन और मूल्य संवर्धन से संबंधित प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन आवश्यक है।

उत्पादक सहकारी समितियों की स्थापना से गुच्छी मशरूम की बाजार पहुँच और सौदेबाजी क्षमता को सुदृढ़ किया जा सकता है। साथ ही, गहन अनुसंधान के माध्यम से गुच्छी की कृत्रिम उत्पादन तकनीकों का विकास तथा नियंत्रित परिस्थितियों में उत्पादन क्षेत्र का विस्तार करके जंगली संसाधनों पर दबाव कम किया जा सकता है।

जम्मू-कश्मीर में गुच्छी की गुणवत्ता मानकीकरण, ग्रेडिंग और ब्रांडिंग की पहल राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में इसकी प्रतिष्ठा और आर्थिक मूल्य को और बढ़ा सकती है। ■

प्राकृतिक संपदा

गुच्छी मशरूम केवल एक उच्च मूल्य वाला व्यंजन ही नहीं, बल्कि जम्मू-कश्मीर के अनेक ग्रामीण समुदायों के लिए सांस्कृतिक और आर्थिक जीवनरेखा भी है। पारंपरिक ज्ञान को वैज्ञानिक कटाई, संरक्षण और विपणन पद्धतियों के साथ जोड़कर गुच्छी मशरूम सतत आजीविका और संसाधन संरक्षण दोनों को बढ़ावा देने की क्षमता रखती है। भविष्य में ग्रामीण विकास और जैव-संसाधन संरक्षण कार्यक्रमों में गुच्छी को शामिल करने से यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि यह अद्वितीय प्राकृतिक संपदा आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रहे।

ग्लैडियोलस की उन्नत खेती

साक्षी संतोष व्यास[1], सुनिता[2] और अनिल के. सिंह[3]

ग्लैडियोलस एक आकर्षक एवं लाभदायक पुष्प फसल है, जिसकी मांग देश-विदेश दोनों में निरंतर बढ़ रही है। इसकी खेती साधारण जलवायु और विभिन्न प्रकार की मृदा में भी सफलतापूर्वक की जा सकती है और अन्य पारंपरिक फसलों की तुलना में इससे प्राप्त फूलों का बाजार मूल्य अधिक होता है। उन्नत किस्मों, वैज्ञानिक सिंचाई पद्धतियों, जैव उर्वरकों तथा ऊतक संवर्धन जैसी आधुनिक तकनीकों को अपनाकर किसान कम लागत में अधिक उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं। यह फसल न केवल सौंदर्य और रोजगार का सशक्त माध्यम है, बल्कि किसानों के लिए अधिक आय का एक टिकाऊ और स्थायी विकल्प भी बन रही है।

बदलते समय में फूलों की व्यावसायिक खेती किसानों के लिए आय का एक सशक्त माध्यम बन रही है, जिसमें ग्लैडियोलस ने अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित की है। आकर्षक रंगों और बेहतर बाजार मूल्य के कारण यह फसल तेजी से लोकप्रिय हो रही है। यह एक प्रमुख कर्तित पुष्प (कट-फ्लॉवर) फसल है, जो अपने सुंदर, आकर्षक एवं टिकाऊ फूलों के कारण घरेलू तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में विशेष लोकप्रियता रखती है।

देश में इसकी खेती लगभग 11,660 हैक्टर क्षेत्र में की जा रही है, जिससे प्रतिवर्ष लगभग 106 करोड़ फूलों का उत्पादन होता है। इसके लंबे, आकर्षक एवं रंग-बिरंगे पुष्पदंड विवाह, उत्सवों, धार्मिक आयोजनों तथा औपचारिक कार्यक्रमों में सजावट के लिए व्यापक रूप से उपयोग किए जाते हैं। बेहतर शेल्फ लाइफ, रंगों की विविधता और अधिक उपज क्षमता के कारण ग्लैडियोलस किसानों के लिए एक लाभदायक व्यवसाय के रूप में उभर रहा है। साथ ही, इसकी निर्यात संभावनाएँ भी अत्यंत प्रबल हैं, जिससे देश के कट-फ्लॉवर निर्यात को नया प्रोत्साहन मिल रहा है।

उपयुक्त जलवायु एवं मृदा

ग्लैडियोलस को हल्के ठंडे से समशीतोष्ण जलवायु में उगाया जाता है। न्यूनतम 16-25°से. तापमान में अंकुरण और पुष्पोदय श्रेष्ठ होता है, जबकि 30-40°से. तक के तापमान पर भी फसल खिल सकती है। अत्यधिक ऊष्मा या ठंड रोग और बौनी वृद्धि ला सकती है। इस फसल के लिए 80 प्रतिशत से अधिक पूर्ण सूर्यप्रकाश आवश्यक होता है, साथ ही खेत को तेज हवाओं से सुरक्षित रखना चाहिए। मृदा की दृष्टि से दोमट से लेकर बालू दोमट मृदा उत्तम है जिसमें कार्बनिक पदार्थ की मात्रा अधिक हो। मिट्टी की गहरी जुताई (कम से कम 30 सें.मी.) और जल निकासी की उचित व्यवस्था अपेक्षित है। सर्वोत्तम परिणाम के लिए मृदा का पी.एच. मान 5.5-6.5 के बीच रखना चाहिए । भारी मृदा में रेत मिलाकर जुताई करें तथा रेतीली मृदा में अच्छी सड़ी-गली खाद मिलनी चाहिए

सारणी: ग्लैडियोलस की कुछ उन्नत किस्मों की विशेषताएं

किस्म का नाम	मुख्य रंग	फूल आने की अवधि (दिन)	अनुमानित उपज (स्पाइक/है.)
अर्का अमर	गुलाबी (सफेद धब्बा)	80-90	150,000
अर्का गोल्ड	पीला (लाल धब्बा)	74	150,000
फुले प्रेरणा	गुलाबी-श्वेत	90-100	150,000
पूसा उन्नति	केसरिया-लाल	90	150,000
पूसा रेड वेलेंटाइन	गहरा लाल (सफेद रेखा)	90	150,000
शोभा	हल्का गुलाबी (क्रीमी गला)	90	150,000

[1,2]विद्यावाचस्पति छात्रा, उद्यान विभाग, [3]आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, उद्यान विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

उन्नत किस्में

ग्लैडियोलस की विभिन्न उन्नत किस्में उपलब्ध हैं जिनके रंग, फूल आने की अवधि और उपज में भिन्नता होती है। प्रमुख किस्मों का विवरण सारणी में दिया गया है। ग्लैडियोलस की कलियाँ 60-120 दिनों में खिलती हैं और उचित प्रबंधन से लगभग 1.5 लाख स्पाइक/हैक्टर तक उपज प्राप्त की जा सकती है।

ग्लैडियोलस की किस्में भिन्न-भिन्न लंबाई की होती हैं, आमतौर पर 80-150 सें.मी. तक के पादप उत्पादित होते हैं। इनमे अर्का अमर की कलियाँ गुलाबी-सफेद, अर्का गोल्ड पीली-लाल, फुले प्रेरणा गुलाबी-सफेद, पूसा उन्नति केसरिया-लाल, पूसा रेड वेलेंटाइन गहरा लाल और शोभा हल्का गुलाबी रंग प्रस्तुत करती हैं। सभी किस्मों की अपेक्षित उपज लगभग समान घटित होती है (लगभग 1.5 लाख स्पाइक/हैक्टर), हालांकि मौसम और प्रबंधन पर निर्भर न्यूनतम भिन्नता हो सकती है।

कंद चयन एवं रोपण विधि

ग्लैडियोलस कंद द्वारा प्रसारित होता है। रोपण के लिए स्वस्थ, रोगमुक्त और संतरी-समान आकार (2.5 सें.मी. से बड़े व्यास) वाले कंद का चयन करें। लंबुका और गोलाकृति कंदों का प्रयोग उपयुक्त पुष्पोत्पादन देता है। सूखे या सड़े कंद बिल्कुल न लगाएँ। रोपण से पहले कंदों को किसी कवक नाशक (जैसे कार्बेण्डाजिम) में 10-15 मिनट भिगोकर लगाएं। रोपण का उपयुक्त समय सितंबर-नवंबर है।

आकर्षक ग्लैडियोलस पुष्प

रोपण: ग्लैडियोलस का रोपण सामान्यत: क्यारियों अथवा मेड़ों-नालियों (रिज एवं फर्रो) प्रणाली में किया जाता है। खेत में 30 सें.मी. चौड़ी मेड़ें बनाई जाती हैं तथा प्रत्येक मेड़ पर 15 सें.मी. की दूरी पर कंदों का रोपण किया जाता है। इस विधि से लगभग 80,000 कंद प्रति एकड़ की दर से रोपाई संभव होती है। कंदों को 7-10 सें. मी. की गहराई पर लगाकर ऊपर से हल्की मिट्टी से ढक देना चाहिए तथा तुरंत हल्की सिंचाई करनी चाहिए।

रोपण के बाद पौधों में 4-6 पत्तियाँ निकलने तक नियमित सिंचाई करना आवश्यक होता है, जिससे पौधों की प्रारंभिक वृद्धि समान एवं स्वस्थ बनी रहती है।

पोषण एवं जल प्रबंधन

खाद एवं उर्वरक प्रबंधन: ग्लैडियोलस की उत्तम वृद्धि एवं उच्च गुणवत्ता वाले फूल उत्पादन के लिए खेत की तैयारी के समय प्रति हैक्टर लगभग 20 टन अच्छी तरह सड़ी गोबर खाद अथवा वर्मीकम्पोस्ट मिलानी चाहिए। रासायनिक उर्वरकों के रूप में नाइट्रोजन: फॉस्फोरस: पोटेशियम (एन:पी:के) का अनुपात 120:150:150 कि.ग्रा./हैक्टर अनुशंसित है।

उर्वरकों का प्रयोग इस प्रकार करें - बुआई से पूर्व 60 कि.ग्रा. नाइट्रोजन, संपूर्ण 150 कि.ग्रा. फॉस्फोरस तथा 150 कि.ग्रा. पोटेशियम को आधार खाद (बेसल डोज) के रूप में दें। शेष 60 कि.ग्रा. नाइट्रोजन को दो बराबर भागों में विभाजित कर पहली मात्रा 4-6 पत्तियों की अवस्था पर तथा दूसरी मात्रा 6-8 सप्ताह बाद टॉप ड्रेसिंग के रूप में दें। इस संतुलित पोषण प्रबंधन से पौधों की वृद्धि सुदृढ़ होती है तथा स्पाइक की संख्या एवं गुणवत्ता में वृद्धि होती है।

सिंचाई प्रबंधन: रोपण के समय खेत में पर्याप्त नमी होना आवश्यक है, जिससे अंकुरण के तुरंत बाद सिंचाई की आवश्यकता न पड़े। गर्मियों में सामान्यत: सप्ताह में दो बार तथा ठंड के मौसम में सप्ताह में एक बार सिंचाई पर्याप्त रहती है। फसल की सक्रिय वृद्धि अवधि में नियमित एवं हल्की सिंचाई करने से फूलों का विकास बेहतर होता है।

फूलों की कटाई से लगभग 4-6 सप्ताह पूर्व सिंचाई बंद कर देनी चाहिए, जिससे कंदों का उचित परिपक्वन एवं सुखाना संभव हो सके। फूल बनने की अवस्था में जल की कमी नहीं होने देनी चाहिए, क्योंकि इस समय पानी का अभाव पौधों को कमजोर कर सकता है और फूलों की गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

कीट एवं रोग प्रबंधन

ग्लैडियोलस की फसल में विभिन्न प्रकार के कीट एवं रोगों का प्रकोप पाया जाता है, जिनका समय पर एवं वैज्ञानिक ढंग से नियंत्रण आवश्यक है। प्रमुख कीटों में कटवर्म, एफिड्स (पत्ती-चूसक कीट), थ्रिप्स, बल्ब माइट तथा कंद मक्खी शामिल हैं। इसी प्रकार प्रमुख रोगों में फ्यूजेरियम रॉट, विल्ट, स्पॉन्जी रॉट, नेक रॉट, पत्ती धब्बा रोग तथा विभिन्न विषाणुजनित (वायरल) रोग देखे जाते हैं।

इन समस्याओं से बचाव हेतु जैव उर्वरकों एवं रसायनों का संतुलित प्रयोग करें। इसके अंतर्गत खेत की नियमित सफाई, संतुलित पोषण प्रबंधन तथा रोगग्रस्त पौधों को प्रारंभिक अवस्था में ही उखाड़कर नष्ट करना अत्यंत आवश्यक है। कीट नियंत्रण के लिए आवश्यकता अनुसार मैलाथियॉन, कार्बेरिल अथवा क्लोरोपाइरीफॉस का 0.2–0.3 प्रतिशत घोल बनाकर छिड़काव प्रभावी पाया गया है।

कवकजनित रोगों के नियंत्रण हेतु डाइथेन एम-45 (मैंकोजेब), कैप्टॉन अथवा बाविस्टिन जैसे अनुशंसित कवकनाशियों का प्रयोग लाभकारी रहता है। विषाणुजनित रोगों से संक्रमित पौधों को खेत से निकालकर नष्ट करना ही सर्वोत्तम उपाय है। आधुनिक एवं टिकाऊ प्रबंधन के अंतर्गत कंद उपचार हेतु ट्राइकोडर्मा जैसे जैव नियंत्रक एजेंटों का उपयोग तथा कंदों का हॉट वॉटर ट्रीटमेंट अपनाकर रोगों की रोकथाम की जा सकती है।

तुड़ाई, प्रसंस्करण एवं भंडारण

फूलों की तुड़ाई: ग्लैडियोलस की कलियाँ रोपण के 80-120 दिनों में खिलती हैं (प्रारंभिक किस्में 80-90 दिन में, देर वाली 100-145 दिन में)। फूलों की कटाई तब करें जब पहली कली खुलने लगे। तेज धार

नवाचार

ग्लैडियोलस उत्पादन में नई तकनीकों का समावेश लगातार हो रहा है। ड्रिप सिंचाई एवं फर्टिगेशन (नली तंत्र से सिंचाई व उर्वरक देना) से पानी की बचत एवं पोषक तत्वों की दक्ष आपूर्ति होती है, जिससे उत्पादन बढ़ता है। संरक्षित कृषि (ग्रीनहाउस, शेडनेट) में असमय फसल उगाकर निरंतर आपूर्ति की जा सकती है। ऊतक संवर्धन विधि से रोगमुक्त, गुणवत्ता युक्त कंद तैयार किए जा रहे हैं, जिससे खेत में सीधे इम्पोर्टेड कंद की जरूरत कम हो रही है। जैव उर्वरकों और सूक्ष्मकण उर्वरक के प्रयोग से मिट्टी के स्वास्थ्य एवं पौधों की रोग प्रतिरोधक क्षमता में सुधार हो रहा है। उन्नत किस्मों के विकास, जलवायु-सुलभ खेती तथा आईओटी आधारित स्मार्ट फार्मिंग भी आने वाले समय में ग्लैडियोलस खेती को और अधिक लाभप्रद बनाएंगे।

वाले चाकू से स्पाइक को आधार से काटें, पौधे पर कम से कम 4-6 पत्तियाँ बनी रहें।

घरेलू बाजार के लिए फूल 1-2 खुले निचले फ्लोरेट के स्तर पर काटे जा सकते हैं, जबकि निर्यात हेतु फूल पूरी तरह रंग भरने वाली अंकुर अवस्था में काटना उचित होता है। कटाई के बाद तुरंत स्पाइक के तने को लगभग 15 सें.मी. तक साफ पानी वाली बाल्टी में डुबो दें, जिससे ताजगी बनी रहे।

कंद की जुताई एवं प्रसंस्करण

फूलों की कटाई के 6-8 सप्ताह बाद कंद तैयार हो जाते हैं। कंद तब निकालें जब लगभग 25% छोटे कंद (कंदेल) भूरे-भूरे हो जाएँ और पत्तियाँ सूखने लगें। मिट्टी में नमी देखकर हल्की सिंचाई के 4-7 दिनों बाद ही कंदों को खोदना चाहिए। निकाले गए कंदों को रोग जांचकर छाँट लें।

व्यावसायिक पुष्प उत्पादन हेतु उपयुक्त हो फसल प्रबंधन

सुखाना एवं भंडारण

खुदाई के बाद कंदों से मिट्टी साफ कर उन्हें अच्छी वायु संचार वाले स्थान पर छायादार अथवा अवरुद्ध प्रकाश में लगभग 2 सप्ताह तक सुखाना चाहिए, जिसे करिंग कहा जाता है। करिंग के पश्चात कंदों को 0.2 प्रतिशत कैप्टॉन अथवा डाइथेन जैसे उपयुक्त कवकनाशी से उपचारित करना लाभकारी रहता है।

उपचारित एवं पूर्णतः सूखे कंदों को जालदार थैलों या ट्रे में भरकर ठंडे भंडारण कक्ष में 3–7°से. तापमान पर संग्रहित करें। छोटे आकार के कंदों को कमरे के तापमान पर भी सुरक्षित रखा जा सकता है, जबकि बड़े कंदों का भंडारण रेफ्रिजरेटर में करना अधिक उपयुक्त रहता है।

रोपण से लगभग एक माह पूर्व कंदों को ठंडे भंडारण से निकालकर कमरे के तापमान पर एक सप्ताह तक खुला रखें। इसके बाद कंदों की बाहरी सूखी परत हटाकर रोपण करें। इस प्रक्रिया से रोगमुक्त, स्वस्थ एवं शीघ्र अंकुरण करने वाले कंद प्राप्त होते हैं, जिससे फसल की प्रारंभिक वृद्धि बेहतर होती है।

उत्पादन लागत, लाभ एवं विपणन

ग्लैडियोलस खेती की स्थापना एवं देखभाल की लागत अपेक्षाकृत अधिक होती है। नाबार्ड (राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक) के मॉडल के अनुसार एक एकड़ में कुल लागत लगभग रुपये 2.84 लाख है। इसमें श्रम, कंद, बीज, उर्वरक रसायन, सिंचाई इत्यादि खर्च शामिल हैं। दूसरी ओर, उचित प्रबंधन से प्रति एकड़ लगभग 80,000-85,000 स्पाइक (प्रति स्पाइक रुपये 3) की बिक्री से प्रथम वर्ष में रुपये 2.2-2.5 लाख की आय हो सकती है। उच्च मूल्य वाली किस्मों और निर्यात हेतु आकर्षक कलियों पर यह आय और बढ़ सकती है। कई किसान प्रचलित योजनाओं के तहत प्रति किस्म सब्सिडी भी प्राप्त कर सकते हैं।

मंडी एवं विपणन की दृष्टि से ग्लैडियोलस की मांग देश के प्रमुख फूल बाजारों-दिल्ली (गाजीपुर), मुंबई, कोलकाता एवं बैंगलुरु में बनी रहती है। घरेलू बाजार के साथ-साथ खाड़ी देशों सहित पश्चिम एशिया में भी इसके निर्यात की संभावनाएँ मौजूद हैं। उदाहरण के तौर पर, दिल्ली के गाजीपुर फूल बाजार में मई 2024 के दौरान ग्लैडियोलस का औसत भाव लगभग ₹104 प्रति क्विंटल दर्ज किया गया।

वर्तमान में फूलों की खरीद-बिक्री सीधे मंडियों के अलावा फल-बाग बाजारों तथा ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्म के माध्यम से भी की जा रही है।

फूलों का मूल्य निर्धारण मुख्य रूप से गुणवत्ता (रंग, आकार एवं ताजगी), मौसमी मांग तथा कटाई एवं परिवहन लागत पर निर्भर करता है। सुनियोजित विपणन रणनीति अपनाकर किसान ग्लैडियोलस की खेती से अपनी आय में उल्लेखनीय वृद्धि कर सकते हैं।

मनमोहक ग्लैडियोलस

आकर्षक रंग में पुष्प

मार्च-अप्रैल के मुख्य बागवानी कार्य

हरे कृष्ण[1], अरविंद कुमार सिंह[2], मंजूनाथ गौड़ा[1], शुभम कुमार तिवारी[1] और **शशि शेखर[1]**

वसंत ऋतु प्रकृति का अनुपम उत्सव है, जो धरा को नवचेतना और नवजीवन से आलोकित कर देती है। यह शीत ऋतु के विदा होने और ग्रीष्म के आगमन के मध्य का मधुर सेतु है। जैसे ही वसंत का आगमन होता है, दिशाएँ पुष्प-सुगंध से महक उठती हैं, आम्र-वृक्ष मंजरियों से आच्छादित हो जाते हैं और शीतल मलय पवन वातावरण में सुकून तथा माधुर्य घोल देती है। नवांकुरित पत्तियों और रंग-बिरंगे पुष्पों से सुसज्जित वृक्ष प्रेम, पुनर्जागरण और नवीन आरंभ का संदेश देते हैं। नव कलिकाओं के प्रस्फुटन से प्रतीत होता है मानो सृष्टि नवसृजन की तैयारी में स्वयं को सजा रही हो। भारत में वसंत प्रायः फरवरी-मार्च से मार्च-अप्रैल तक का द्विमासिक काल माना जाता है, जो भारतीय पंचांग के अनुसार प्रायः फाल्गुन और चैत्र मास में आता है। लगभग 21 मार्च के आसपास दिन और रात समान हो जाते हैं, जिसे 'वसंत विषुव' कहा जाता है। इसके पश्चात दिन क्रमशः बड़े और रात्रियाँ छोटी होने लगती हैं। इस प्रकार वसंत का सांस्कृतिक ही नहीं, अपितु भौगोलिक और वैज्ञानिक महत्व भी अत्यंत विशिष्ट है। इस ऋतु में बागवानी कार्य की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता जिसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत है।

वसंत के आगमन पर पुरानी पत्तियाँ झड़ जाती हैं और उनकी जगह कोमल नवपल्लव अंकुरित होते हैं। इन नई कलिकाओं के विकास हेतु पौधों को अतिरिक्त ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जो जड़ों में संचित शर्करा से प्राप्त होती है।

फलदार वृक्षों में इस समय वानस्पतिक वृद्धि तथा पुष्पण तीव्र गति से होता है, जिससे बागवानी गतिविधियाँ भी सक्रिय हो जाती हैं। मार्च-अप्रैल के इस अनुकूल काल में आम, अमरूद, लीची तथा नींबूवर्गीय सदाबहार फलों के नए बाग स्थापित किए जा सकते हैं, जबकि समशीतोष्ण एवं उपोष्ण फल वृक्षों में पुष्पण का आरंभ हो जाता है। इस समय बागवानों को परागण प्रबंधन, संतुलित सिंचाई तथा फल-स्थापन के उपरांत उचित जल प्रबंधन पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

अतः फलन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण इस ऋतुराज वसंत का स्वागत सजग और वैज्ञानिक बागवानी क्रियाओं के माध्यम से करें, ताकि प्रकृति के इस नवोत्सव का पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सके।

आम

आम

वसंत की यह द्विमाही अवधि आम की उत्तम पैदावार के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि मार्च में पुष्पण के उपरांत फल बनने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। यह अवस्था अत्यंत संवेदनशील होती है, अतः इस समय रासायनिक कीटनाशकों के प्रयोग से बचना चाहिए, क्योंकि इनके प्रभाव से परागकणों की जीवंतता प्रभावित हो सकती है तथा मधुमक्खियों जैसे लाभकारी कीटों की हानि संभव है।

पुष्पण काल में सिंचाई न करना उचित रहता है, किंतु फल लगने के तुरंत बाद संतुलित एवं नियंत्रित जल प्रबंधन सुनिश्चित करना आवश्यक है, जिससे फल विकास सुचारु रूप से हो सके।

[1]भाकृअनुप-भारतीय सब्जी अनुसंधान संस्थान, वाराणसी- 221005 [2]केंद्रीय बागवानी परीक्षण केंद्र, (केंद्रीय शुष्क बागवानी संस्थान), वेजलपुर (गोधरा), गुजरात-389 340

रोग एवं कीट प्रबंधन की दृष्टि से जब बौर की लंबाई लगभग 8-10 सें.मी. हो जाए, तब चूर्णिल आसिता से बचाव के लिए आर्द्रशील गंधक (2 ग्राम प्रति लीटर पानी) का छिड़काव करें तथा 10-15 दिन बाद डिनोकैप (1 मि.ली. प्रति लीटर) का प्रयोग करें। श्याम व्रण की स्थिति में कार्बेण्डाजिम (2 ग्राम प्रति लीटर) प्रभावी रहता है, जबकि पत्तियों एवं शाखाओं पर संक्रमण होने पर कॉपर ऑक्सीक्लोराइड (3 ग्राम प्रति लीटर) का छिड़काव उपयोगी है।

मिली बग के नियंत्रण हेतु वृक्षों के तनों पर पॉलीथीन पट्टी बाँधना लाभकारी है तथा आवश्यकता पड़ने पर अंतर्प्रवाही कीटनाशकों जैसे डाइमेथोएट का प्रयोग किया जा सकता है। जैविक विकल्प के रूप में ब्यूवेरिया बैसियाना मीली बग की निम्फ अवस्थाओं के नियंत्रण में प्रभावी पाया गया है।

फुदका (तेला) से बचाव के लिए इमिडाक्लोप्रिड (0.3 मि.ली. प्रति लीटर) अथवा बुप्रोफेजीन (1-2 मिली प्रति लीटर) का छिड़काव करें। फल मक्खी नियंत्रण हेतु प्रति एकड़ 6 मिथाइल यूजिनॉल प्लाईवुड प्रपंच स्थापित करना चाहिए तथा वृक्षों के चारों ओर मिट्टी की नियमित जुताई करते रहना चाहिए। तुड़ाई से लगभग तीन सप्ताह पूर्व डेल्टामेथ्रिन 2.8 ईसी (0.5 मि.ली. प्रति लीटर) या एजाडिरेक्टिन (0.3 प्रतिशत, 2 मिली प्रति लीटर) का छिड़काव करें और फलों की समय पर तुड़ाई सुनिश्चित करें।

यदि निगरानी प्रपंच में पाँच से अधिक फल मक्खियाँ प्रति ट्रैप पाई जाएँ, तो साप्ताहिक अंतराल पर चारा छिड़काव करें। इसके लिए 100 ग्राम गुड़ को एक लीटर पानी में घोलकर उसमें 2 मि.ली. डेल्टामेथ्रिन (2.8 ईसी) मिलाया जाता है। तुड़ाई के पश्चात फलों को 48°C तापमान पर एक घंटे तक गर्म जल उपचार देना लाभकारी रहता है।

तना छेदक तथा पत्ती काटने वाले कीटों के नियंत्रण हेतु लेम्डा साइहलोथ्रिन या एसीटामिप्रिड का प्रयोग किया जा सकता है। गुच्छा रोग से प्रभावित बौरों को काटकर नष्ट कर देना चाहिए। दीमक के प्रकोप की स्थिति में क्लोरोपायरीफॉस (2 मि.ली. प्रति लीटर) अथवा फेनवेलरेट या इमिडाक्लोप्रिड 30.5 प्रतिशत एससी का छिड़काव करें।

फल झड़ने से बचाव के लिए प्लेनोफिक्स (4.5 मिली प्रति गैलन) का तीन बार छिड़काव लाभकारी है। निंबोली अवस्था में 2 प्रतिशत यूरिया अथवा सूक्ष्म तत्वों का 10-12 दिन के अंतराल पर छिड़काव फल विकास को प्रोत्साहित करता है। ऊतक क्षय रोग की रोकथाम के लिए 0.8 प्रतिशत बोरैक्स तथा कोएलिया रोग से बचाव हेतु अप्रैल के अंत में 1 प्रतिशत बोरैक्स का छिड़काव करना चाहिए।

नवरोपित पौधों की सिंचाई प्रति सप्ताह करें और उन्हें लू तथा तेज गर्मी से बचाने के लिए तीन ओर से पुआल का छप्पर लगाकर पूर्व दिशा खुली रखें। अप्रैल माह में फलों की वृद्धि तीव्र हो जाती है, इसलिए इस समय सिंचाई का अंतराल लगभग 15 दिनों तक रखना उपयुक्त है।

खाद एवं उर्वरक प्रबंधन के अंतर्गत एक वर्ष आयु के पौधों को प्रति पौधा 50 ग्राम नाइट्रोजन, 25 ग्राम फास्फेट तथा 50 ग्राम पोटाश देना चाहिए, जबकि 10 वर्ष से अधिक आयु के वृक्षों को प्रति वृक्ष 500 ग्राम नाइट्रोजन, 250 ग्राम फॉस्फेट और 500 ग्राम पोटाश देना लाभकारी सिद्ध होता है।

इस प्रकार सुविचारित एवं संतुलित प्रबंधन अपनाकर वसंत ऋतु में आम की स्वस्थ वृद्धि और उत्कृष्ट उत्पादन सुनिश्चित किया जा सकता है।

केला

मार्च-अप्रैल में तापमान बढ़ने के साथ मिट्टी की नमी तीव्र गति से घटने लगती है, जिससे केले की उच्च गुणवत्ता वाली पैदावार के लिए सुव्यवस्थित सिंचाई प्रबंधन अत्यंत आवश्यक हो जाता है। इस अवधि में खेत में प्रत्येक 5-6 दिन के अंतराल पर सिंचाई करना उपयुक्त रहता है, ताकि पौधों की वृद्धि बाधित न हो और फल विकास संतुलित बना रहे। दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों, विशेषत: कावेरी नदी तटवर्ती इलाकों में मार्च माह रोबस्टा, ड्वार्फ कैवेंडिश और ने पूवान जैसी किस्मों की रोपाई के लिए अनुकूल होता है, जबकि पलनी की निचली पहाड़ियों में अप्रैल माह वान, रास्थली और कर्पुरवल्ली किस्मों की रोपाई हेतु उपयुक्त माना जाता है।

फसल की स्वस्थ वृद्धि और रोग नियंत्रण के लिए सूखी एवं रोगग्रस्त पत्तियों को समय-समय पर हटाते रहना चाहिए, जिससे सूर्य प्रकाश और वायु संचार पौधों के निचले भागों तक सुगमता से पहुँच सके तथा कीट एवं रोगों की आशंका कम हो। अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए पौधे पर कम से कम 13-15 स्वस्थ पत्तियों का बने रहना आवश्यक है। यदि पत्तियों में सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी के लक्षण दिखाई दें, तो आवश्यक तत्वों का त्वरित पर्णीय छिड़काव करना चाहिए, जिससे पोषण संतुलन पुन: स्थापित हो सके।

केला

पेड़ी फसल के रूप में उगाए गए केले में छद्मतना (प्स्यूडोस्टेम) बेधक कीट का प्रकोप प्राय: देखा जाता है। खेत को स्वच्छ रखें तथा कटाई के बाद बचे हुए छद्मतना सहित सभी पौध अवशेषों को हटा दें, क्योंकि इनमें कीट की विभिन्न अवस्थाएँ पनप सकती हैं। घुन (वीविल) से संक्रमित एवं अत्यधिक क्षतिग्रस्त छद्म तनों को काटकर छोटे टुकड़ों में कर दें, जिन्हें वर्मीकम्पोस्टिंग में उपयोग किया जा सकता है। बूढ़ी, पत्ती धब्बा रोग से संक्रमित तथा लटकती पत्तियों को हटा दें, क्योंकि ये वयस्क भृंगों के आश्रय स्थल बनती हैं।

पत्ती कुक्षि और छद्मतना में ब्युवेरिया बैसियाना (20 ग्राम प्रति लीटर पानी) का छिड़काव प्रभावी पाया गया है। वयस्क भृंगों को पकड़ने के लिए 1 जाल प्रति 40 पौधों की दर से छद्मतना जाल लगाएँ। इसके लिए लगभग 1 फुट लंबा कटा हुआ केला तना लेकर उसे लंबाई में दो भागों में विभाजित करें और कटे भाग की सतह पर ब्युवेरिया बैसियाना या कीटजनित सूत्रकृमि (हेटेरोरहैब्डिटिस बैक्टीरियोफोरा) से संक्रमित गैलेरिया कैडवर का लेप करें।

छद्मतना घुन के निवारक नियंत्रण हेतु रोपण के 5वें, 6वें एवं 7वें माह में प्रति पौधा 4 संक्रमित कैडवर की दर से पत्ती कुक्षि में कीटजनित सूत्रकृमि का प्रयोग करें तथा 5वें माह से 1×10 संक्रामक जुवेनाइल प्रति जाल की दर से सूत्रकृमि लेपित तना जाल का उपयोग करें। यदि छद्मतना में छेद के साथ भुरभुरा पदार्थ या जेली जैसा स्राव दिखाई दे, तो 1000 संक्रामक जुवेनाइल/मि.ली. की सांद्रता से 20 मि.ली. सक्रिय जुवेनाइल को छेद में प्रविष्ट करवाएं ।

रासायनिक नियंत्रण हेतु रोपण के 5वें, 6वें एवं 7वें माह में फिप्रोनिल 5 प्रतिशत

एससी (3 मि.ली./लीटर) या कार्बोसल्फॉन 25 ईसी (1.5 मि.ली./लीटर) का छिड़काव छद्यतना तथा जड़ क्षेत्र में करें। गंभीर प्रकोप की स्थिति में क्लोरोपायरीफॉस 20 ईसी (2.5 मि.ली./लीटर) से छिड़काव एवं बेसल ड्रेंचिंग करें।

फ्यूजेरियम म्लानि रोग प्रबंधन हेतु रोपण के समय प्रति पौधा 250 ग्राम नीम खली का प्रयोग करें। रोपण से पूर्व पौधों (भूस्तारी) को 0.2 प्रतिशत कार्बेन्डाजिम घोल में 30 मिनट तक डुबोकर उपचारित करें। रोपण के 2, 4 एवं 6 माह बाद 0.2 प्रतिशत कार्बेण्डाजिम से मृदा ड्रेंचिंग करें तथा रोपण के 3, 5 एवं 7 माह पर छद्यतना इंजेक्शन दें।

मार्च के प्रारंभ से साप्ताहिक अंतराल पर सिंचाई करने से पौधों को पर्याप्त नमी मिलती रहती है। पोषण प्रबंधन के अंतर्गत प्रत्येक पौधे से 40–50 सें.मी. दूरी पर गोलाई में 25 ग्राम नाइट्रोजन (लगभग 55 ग्राम यूरिया) डालकर हल्की गुड़ाई करें और तत्पश्चात सिंचाई करें। पौधे के आधार से निकलने वाली अतिरिक्त भूस्तारियों को हटाकर केवल एक स्वस्थ तलवार-पत्ती (सकर) को बनाए रखें, क्योंकि यही नए पौधों के संतुलित विकास में सहायक होती है। इसके अतिरिक्त, 60 ग्राम नाइट्रोजन को 10 लीटर पानी में घोलकर पर्णीय छिड़काव करना भी लाभकारी रहता है।

अमरूद

जिन क्षेत्रों में सिंचाई की समुचित सुविधा उपलब्ध हो, वहाँ मार्च माह में अमरूद की रोपाई सफलतापूर्वक की जा सकती है। खेत की भली-भाँति तैयारी करने के पश्चात निर्धारित दूरी पर 60 × 60 × 60 सें.मी. आकार के गड्ढे खोदें। प्रत्येक गड्ढे में 25-30 कि.ग्रा. सड़ी हुई गोबर की खाद, 500 ग्राम सुपर फॉस्फेट तथा 500-1000 ग्राम नीम की खली मिलाकर रोपण से लगभग 15-20 दिन पूर्व भर दें, ताकि यह मिश्रण मिट्टी में अच्छी तरह मिलकर पौधों के लिए अनुकूल पोषक वातावरण तैयार कर सके।

रोपण से पूर्व गड्ढों में हल्की सिंचाई करें। तत्पश्चात पौधे की जड़ के आकार के अनुसार बीच में स्थान बनाकर रोपाई करें और चारों ओर की मिट्टी को दबाकर पुनः हल्की सिंचाई करें। पौधों के बीच की दूरी मिट्टी की उर्वरता, किस्म एवं स्थानीय जलवायु पर निर्भर करती है। सघन बागवानी तकनीक अपनाने पर प्रति हैक्टर 500 से 5000 पौधे तक लगाए जा सकते हैं।

मार्च माह में वृक्षों के नीचे की मिट्टी की जुताई करना लाभकारी रहता है, जिससे कीटों के प्यूपा नष्ट हो जाते हैं और संक्रमण की आशंका कम होती है। यही समय पुराने एवं अनुत्पादक वृक्षों के पुनर्जीवन के लिए भी उपयुक्त है। इसके अंतर्गत वृक्षों का भूमि से लगभग 75 सें.मी. ऊँचाई तक शिरोच्छेदन किया जा सकता है अथवा द्वितीयक शाखाओं को उनके उद्गम बिंदु से लगभग 75 सें. मी. तक काटा जा सकता है। पिछले मौसम में विकसित अंतःस्थ शाखाओं को 10-15 सें.मी. तक छाँटने से नई सशक्त वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

अमरूद की फसल सामान्यतः वर्षा एवं जाड़े के मौसम में प्राप्त होती है।

यदि केवल एक ही फसल लेनी हो, तो वर्षा ऋतु की फसल को छोड़ देना अधिक लाभकारी माना जाता है। वर्षा फसल को रोकने के लिए मई माह तक सिंचाई बंद कर देना उपयुक्त रहता है। पुष्पण नियंत्रण हेतु नेफ्थेलीन एसिटिक एसिड 800 पीपीएम (8 ग्राम प्रति 10 लीटर पानी) का 15 दिनों के अंतराल पर दो बार छिड़काव करें -पहला छिड़काव तब जब लगभग 50 प्रतिशत पुष्प खिल चुके हों तथा दूसरा लगभग 20 दिनों बाद। वैकल्पिक रूप से, हाथ से पुष्प तोड़कर भी हटाए जा सकते हैं। नई वृद्धि को केवल दो पत्तियों तक छाँट देने से भी वर्षा फसल को नियंत्रित किया जा सकता है।

पोषण प्रबंधन के अंतर्गत प्रति पौधा लगभग 50 कि.ग्रा. गोबर की खाद, 0.5 कि. ग्रा. यूरिया, 1.25 कि.ग्रा. सुपर फॉस्फेट तथा 750 ग्राम पोटाश देना चाहिए।

रोग एवं कीट प्रबंधन में उकठा रोग के नियंत्रण हेतु प्रत्येक पौधे की जड़ों में 20-30 ग्राम बाविस्टीन को 10-15 लीटर पानी में घोलकर प्रयोग करें। एंथ्राक्नोज (श्याम व्रण) रोग से फल झड़ने लगते हैं; इसकी रोकथाम हेतु 0.25 प्रतिशत ब्लाइटॉक्स घोल (250 ग्राम प्रति 100 लीटर पानी) का छिड़काव करें।

मि.ली. बग के नियंत्रण के लिए स्पीनोसैड 45 एससी अथवा स्पिनेटोरम 11.7 एससी एवं मेटारिजियम एनिसोप्लि का प्रयोग करें। फल मक्खी से बचाव हेतु 0.1 प्रतिशत मेथाइल यूजीनॉल युक्त प्रपंचों का उपयोग करें।

यदि बोरॉन की कमी से पत्तियाँ छोटी रह जाएँ अथवा फल कठोर होकर फटने लगें, तो 0.3 प्रतिशत बोरेक्स का पर्णीय छिड़काव करें। जिंक की कमी से पत्तियाँ छोटी एवं पीली दिखाई देने पर 0.5 कि.ग्रा. जिंक सल्फेट तथा 0.5 कि.ग्रा. चूना 100 लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें। नई पत्तियों के आगमन पर 15 दिनों के अंतराल पर 2-3 बार यह छिड़काव करने से पोषण संतुलन स्थापित होता है और फसल की गुणवत्ता में सुधार होता है।

नीबूवर्गीय फल

यदि फरवरी माह में नीबूवर्गीय फलों को उर्वरक नहीं दिया गया हो, तो मार्च माह में अवश्य प्रदान करें, क्योंकि इस समय पौधों में सक्रिय वृद्धि एवं पुष्पण की तैयारी प्रारंभ हो जाती है। उर्वरक को सीधे तने से सटाकर न डालें, बल्कि तने से कम से कम 15 सें.मी. (लगभग 6 इंच) की दूरी पर वृत्ताकार रूप में डालें तथा तत्पश्चात हल्की सिंचाई करें, जिससे पोषक तत्व जड़ क्षेत्र में समुचित रूप से पहुँच सकें। सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी को दूर करने हेतु 'अर्का सिट्रस स्पेशल' (5 ग्राम प्रति लीटर पानी) का दो बार पर्णीय छिड़काव करें, पहला पुष्पण से पूर्व तथा दूसरा पुष्पण के पश्चात। वैकल्पिक रूप से, 5 ग्राम जिंक सल्फेट, 2 ग्राम फेरस सल्फेट, 2 ग्राम मैंगनीज सल्फेट, 2 ग्राम मैग्नीशियम सल्फेट, 1 ग्राम बोरेक्स, 6 ग्राम चूना तथा 10 ग्राम यूरिया को 1 लीटर पानी में घोलकर पर्णीय छिड़काव किया जा सकता है। यह मिश्रण संतुलित वृद्धि, पत्तियों की हरितिमा तथा पुष्प एवं फल विकास में सहायक होता है। अप्रैल माह में बढ़ते तापमान के कारण मिट्टी की नमी शीघ्र कम होने लगती है, अतः पौधों के थालों में नमी संरक्षण हेतु पलवार अवश्य बिछाएँ। पौधशाला में नियमित सिंचाई, गुड़ाई एवं निराई करते रहें, जिससे पौधे स्वस्थ एवं सशक्त विकसित हों। बाग में लगभग 15 दिनों के अंतराल पर सिंचाई सुनिश्चित करें, ताकि फल विकास पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। ग्रीष्म ऋतु में बढ़ते तापमान के कारण फलों की वृद्धि बाधित हो सकती है तथा फल झड़ने की समस्या उत्पन्न हो सकती है। इसकी रोकथाम हेतु 2,4-डी (10 ग्राम प्रति 100 लीटर पानी) का छिड़काव लाभकारी होता है। साथ ही, फलों के फटने की समस्या से बचाव के लिए 100 मिलीग्राम जिब्रेलिक एसिड को 10 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करें।

अंगूर

उष्णकटिबंधीय जलवायु वाले क्षेत्रों, जैसे महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में अप्रैल माह अंगूर की आधारिक छंटाई (प्रूनिंग) के लिए अत्यंत उपयुक्त माना जाता है। अंगूर में फलन प्रत्येक मौसम में नई विकसित शाखाओं पर होता है, अत: पिछले वर्ष की टहनियों को एक निश्चित लंबाई तक छाँटना अनिवार्य है, जिससे संतुलित वृद्धि और समुचित फलन सुनिश्चित हो सके। छंटाई की तीव्रता किस्म की वृद्धि क्षमता पर निर्भर करती है, जैसे-ब्यूटी सीडलेस में 2-3 कलिकाएँ, पर्लेट में 3-4, पूसा उर्वशी एवं पूसा नवरंग में 4-6, जबकि पूसा सीडलेस, किशमिश चार्म तथा थॉमसन सीडलेस में 9-12 कलिकाएँ छंटाई के पश्चात छोड़ना उपयुक्त रहता है।

छंटाई पूर्ण होने के बाद मुख्य शाखा से अनावश्यक पत्तियों को हटाकर बेलों को जाल या मंडप पर सुव्यवस्थित रूप से फैला देना चाहिए, जिससे कलिकाओं का प्रस्फुटन समान एवं तीव्र गति से हो सके। उत्तर भारत की परिस्थितियों में एक आदर्श अंगूर गुच्छे में लगभग 100-120 दाने पर्याप्त माने जाते हैं, अत: गुणवत्तापूर्ण उत्पादन के लिए अतिरिक्त दानों की छंटाई (थिनिंग) आवश्यक है।

वांछित आकार एवं भार प्राप्त करने हेतु, जब लगभग 50 प्रतिशत पुष्प खिल चुके हों, तब 30-40 मिलीग्राम जिब्रेलिक एसिड प्रति लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करना लाभकारी होता है। फल का आकार 3-4 मि.मी. होने पर विरलीकरण प्रक्रिया प्रारंभ कर देनी चाहिए, जिससे शेष दानों का विकास बेहतर हो सके।

नई बेलों की सिंचाई 10-15 दिन के अंतराल पर नियमित रूप से करें, ताकि वृद्धि में बाधा न आए। यदि एन्थ्राक्नोज (श्याम व्रण) रोग का प्रकोप दिखाई दे, तो बाविस्टीन 0.2 प्रतिशत या ब्लाइटॉक्स (3 ग्राम प्रति लीटर पानी) का छिड़काव एक सप्ताह के अंतराल पर दो बार करें। चूर्णिल फफूंद की रोकथाम हेतु केराथेन 0.1 प्रतिशत घोल का छिड़काव करें अथवा सल्फर धूल का उपयोग करें।

थ्रिप्स नियंत्रण के लिए इमिडाक्लोप्रिड 100 मि.ली. प्रति 300 लीटर पानी की दर से छिड़काव प्रभावी रहता है। पोषण प्रबंधन की दृष्टि से एक वर्ष आयु के पौधे को 50 ग्राम नाइट्रोजन तथा 40 ग्राम पोटाश देना उपयुक्त है। पौधे की आयु बढ़ने के साथ यह मात्रा क्रमश: बढ़ाई जानी चाहिए। पाँच वर्ष या उससे अधिक आयु के पौधों के लिए 250 ग्राम नाइट्रोजन तथा 200 ग्राम पोटाश देना लाभकारी सिद्ध होता है।

पपीता

मार्च-अप्रैल के दौरान पपीते की नर्सरी तैयार करने का कार्य पूरा कर लेना चाहिए, ताकि जून-जुलाई में रोपाई के समय स्वस्थ एवं सशक्त पौधे उपलब्ध हो सकें। सामान्यत: एक हैक्टर क्षेत्र की रोपाई हेतु लगभग 250 ग्राम बीज पर्याप्त माना जाता है। पौधों को 20 × 15 सेंटीमीटर आकार के 150-200 गेज पॉलीबैग में तैयार किया जा सकता है।

इसके लिए मिट्टी, बालू तथा सड़ी हुई गोबर की खाद को समान अनुपात (1:1:1) में मिलाकर उत्तम माध्यम तैयार करें, जिससे पौधों की जड़ों का संतुलित विकास

हो सके। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में रोपाई का कार्य मार्च माह में भी किया जा सकता है, किंतु गड्ढों को भरते समय यह विशेष ध्यान रखें कि पौधों के चारों ओर जलभराव न हो, क्योंकि पपीता जल जमाव के प्रति अत्यंत संवेदनशील होता है।

नर्सरी अवस्था में आर्द्र गलन (डैम्पिंग ऑफ) एक गंभीर समस्या के रूप में उभर सकती है। इसके नियंत्रण हेतु मेटालेक्सिल तथा मैंकोजेब का 2 ग्राम प्रति लीटर पानी की दर से उपचार करना आवश्यक है।

पपीता

रोपाई के पश्चात बाग में लगभग 15 दिनों के अंतराल पर नियमित सिंचाई करें और विशेष रूप से नवरोपित पौधों को पर्याप्त नमी उपलब्ध कराएँ, ताकि उनका प्रारंभिक विकास बाधित न हो। इसके अतिरिक्त, बाग में निराई-गुड़ाई तथा स्वच्छता का कार्य नियमित रूप से करते रहें, जिससे पौधे स्वस्थ रहें और रोग-कीटों की आशंका न्यूनतम बनी रहे।

लीची

मार्च माह में लीची में फल लगना प्रारंभ हो जाता है, अत: यह समय पोषण एवं संरक्षण प्रबंधन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इस अवधि में प्रत्येक पौधे को 450-500 ग्राम यूरिया तथा 250-300 ग्राम पोटाश देना चाहिए। उर्वरक देने के पश्चात हल्की सिंचाई अवश्य करें, ताकि पोषक तत्व जड़ क्षेत्र में समुचित रूप से उपलब्ध हो सकें।

फल विकास के दौरान उनके आकार में वृद्धि हेतु आवश्यकता अनुसार 2 प्रतिशत यूरिया के दो पर्णीय छिड़काव किए जा सकते हैं। फलों के झड़ने की समस्या से बचाव के लिए मार्च माह में ही प्लेनोफिक्स (2 मि.ली. प्रति 5 लीटर पानी) अथवा एनएए (200 मि.ग्रा. प्रति लीटर पानी) के घोल का छिड़काव लाभकारी रहता है।

चूर्णिल आसिता (पाउडरी मिल्ड्यू) के प्रकोप से बचाव हेतु अनुशंसित फफूंदनाशकों का समय पर प्रयोग करना चाहिए। नवरोपित बागों में नियमित सिंचाई, निराई-गुड़ाई तथा स्वच्छता बनाए रखना आवश्यक है।

अप्रैल माह में फलों के फटने की समस्या की रोकथाम हेतु गुठली बनने के बाद बोरेक्स (4 ग्राम प्रति लीटर पानी) का 15 दिनों के अंतराल पर छिड़काव करें। इसी अवधि में लगभग 15 दिन के अंतराल पर सिंचाई करते रहें, ताकि फलों की वृद्धि नियमित बनी रहे और नमी की कमी से प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

लीची में माइट के प्रकोप को कम करने के लिए क्लोरफेनपायर 10 ईसी 3 मि.ली./लीटर का छिड़काव प्रभावी पाया गया है। फल छेदक की रोकथाम हेतु फूल खिलने से

चीकू

मार्च माह में चीकू के पौधों की सिंचाई 8-10 दिनों के अंतराल पर नियमित रूप से करें। मिट्टी में नमी बनाए रखने तथा खरपतवार नियंत्रण के लिए प्रत्येक वृक्ष के थालों में सूखी पत्तियाँ, घास अथवा धान के पुआल का मल्च बिछाएँ। इससे जल संरक्षण के साथ-साथ जड़ों का तापमान भी संतुलित रहता है। अप्रैल माह में तापमान बढ़ने के कारण सिंचाई का अंतराल घटाकर 5-7 दिन कर देना चाहिए। जहाँ संभव हो, वहाँ ड्रिप सिंचाई प्रणाली के माध्यम से नियमित एवं नियंत्रित जल आपूर्ति सुनिश्चित करें। मिट्टी को भुरभुरी एवं वायुसंचारित बनाए रखने के लिए समय-समय पर निराई-गुड़ाई करें। साथ ही, पलवार (मल्चिंग) का उपयोग करने से नमी संरक्षण, खरपतवार नियंत्रण और पौधों की स्वस्थ वृद्धि में सहायता मिलती है।

पूर्व निंबीसिडीन 4 मि.ली. प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करें।

रासायनिक नियंत्रण के अंतर्गत इमिडाक्लोरोप्रिड 17.8 एसएल की 0.7-1.0 मि.ली. प्रति लीटर पानी की दर से 12-15 दिनों के अंतराल पर दो छिड़काव करें। पहला छिड़काव फल के मटर दाना अवस्था में किया जाना चाहिए। आवश्यकता होने पर तीसरा छिड़काव एमामेक्टिन बेंजोएट 5 प्रतिशत एसजी (0.7 ग्राम प्रति लीटर) अथवा लैम्डा साइहैलोथ्रिन 5 प्रतिशत ईसी (0.7 मि.ली. प्रति 5 लीटर पानी) से किया जा सकता है।

मार्च से जून तक नवरोपित पौधों को तीव्र गर्मी एवं लू से बचाने के लिए पुआल अथवा घास-फूस से बने छप्परों से ढक देना चाहिए। छप्पर का मुख पूर्व दिशा की ओर खुला रखें, ताकि पर्याप्त प्रकाश एवं वायु संचार बना रहे।

अनार

मार्च माह अनार के पौधारोपण की तैयारी के लिए अत्यंत उपयुक्त होता है। पौधारोपण से लगभग एक माह पूर्व 60 × 60 × 60 सेंटीमीटर आकार के गड्ढे खोद लें, जिससे मिट्टी को सूर्यप्रकाश और वायु का पर्याप्त संपर्क मिल सके। इसके बाद गड्ढों की ऊपरी उपजाऊ मिट्टी में 20 कि.ग्रा. सड़ी हुई गोबर की खाद, 1 कि.ग्रा. सिंगल सुपर फॉस्फेट तथा 50 ग्राम क्लोरोपायरीफॉस चूर्ण अच्छी तरह मिलाकर गड्ढों को सतह से लगभग 15 सेंटीमीटर ऊँचाई तक भर दें। गड्ढे भरने के बाद सिंचाई करें, ताकि मिट्टी अच्छी तरह बैठ जाए और रोपण के समय धंसाव न हो। मिट्टी के समुचित बैठ जाने के बाद ही पौधों का रोपण करें।

अनार

सामान्यत: पौधों की दूरी 5 × 5 मीटर या 6 × 6 मीटर रखी जाती है, जबकि सघन पद्धति में 5 × 3 मीटर की दूरी उपयुक्त रहती है। सघन बागवानी पद्धति अपनाने से उत्पादन में लगभग डेढ़ गुना तक वृद्धि संभव है तथा इस पद्धति में लगभग 600 पौधे प्रति हैक्टर लगाए जा सकते हैं।

अप्रैल माह में जिन क्षेत्रों में तेलिया व्याधि का प्रकोप देखा गया हो, वहाँ 0.5 ग्राम स्ट्रेप्टोसायक्लिन तथा 2.5 ग्राम कॉपर ऑक्सीक्लोराइड प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करें। रोग-रहित क्षेत्रों में केवल 2.5 ग्राम कॉपर ऑक्सीक्लोराइड प्रति लीटर पानी का छिड़काव पर्याप्त होता है। हस्त बहार के फलों की तुड़ाई सामान्यत: मार्च से अप्रैल के बीच की जाती है।

नए बागों में प्रति वर्ष 50 ग्राम यूरिया दो समान भागों में दें- पहली खुराक मार्च में तथा दूसरी अप्रैल में। पौधों की आयु पाँच वर्ष होने के पश्चात प्रति पौधा 250 ग्राम यूरिया देना प्रारंभ करें। अनार में पुष्पण के तीन प्रमुख मौसम होते हैं, फरवरी-मार्च (अम्बे बहार), जुलाई-अगस्त (मृग बहार) तथा सितंबर-अक्टूबर (हस्त बहार)। अम्बे बहार की फसल के लिए नियमित और सुनिश्चित सिंचाई अत्यंत आवश्यक होती है।

मार्च-अप्रैल के दौरान थ्रिप्स का प्रकोप अधिक देखा जाता है। इसके नियंत्रण हेतु प्रति एकड़ 15-20 नीले चिपचिपे जाल स्थापित करें। नई पत्तियों के निकलने तथा फल बनने की अवस्था में थायमेथोक्साम 25 डब्ल्यूजी (0.5 ग्राम प्रति लीटर) या एसिटामिप्रिड 20 एसपी (0.3 ग्राम प्रति लीटर) का छिड़काव प्रभावी रहता है। संक्रमण कम से मध्यम स्तर का होने पर नीम गिरी का सत 5 प्रतिशत या एजाडिरेक्टिन 3 मि.ली. प्रति लीटर की दर से छिड़काव करना उपयुक्त है।

जैविक विकल्प के रूप में वर्टिसिलियम लेकानी 2 ग्राम प्रति लीटर अथवा मेटाराइजियम एनिसोप्ली 5 ग्राम प्रति लीटर भी थ्रिप्स नियंत्रण में सहायक सिद्ध होते हैं। साथ ही, वैकल्पिक पोषिता फसलों जैसे मिर्च, प्याज और बैंगन की अंतरवर्ती खेती से परहेज करना चाहिए, ताकि कीटों का प्रजनन और प्रसार न्यूनतम रहे

फालसा

मार्च माह में फालसा के नए बागों की स्थापना की जा सकती है। पौधों को वर्गाकार पद्धति से 2.5-3.0 मीटर की दूरी पर रोपित करना उपयुक्त रहता है। फालसा में पुष्पण फरवरी से प्रारंभ होकर मई तक चलता है। इस अवधि में फलों की उचित वृद्धि एवं विकास के लिए 15 दिन के अंतराल पर नियमित सिंचाई करना आवश्यक है।

फालसा के फल अप्रैल के अंतिम सप्ताह से पकने लगते हैं। चूँकि फल एक साथ परिपक्व नहीं होते, अत: 1000 पीपीएम एथरेल का छिड़काव कर समान परिपक्वता प्राप्त की जा सकती है। फालसा के फल अत्यंत कोमल होते हैं, इसलिए उनकी तुड़ाई प्रात: या सायंकाल के समय करनी चाहिए। तुड़ाई के तुरंत बाद फलों को बाजार तक पहुँचाने की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है, क्योंकि इनकी भंडारण क्षमता कम होती है। फालसा का प्रवर्धन बीज द्वारा भी किया जाता है। बुआई हेतु ताजे एवं पूर्णत: पके फलों से तुरंत निकाले गए बीजों का उपयोग करना चाहिए, जिससे अंकुरण प्रतिशत अच्छा प्राप्त हो सके।

बेर

मार्च माह में अधिकांश बेर की किस्में पककर तैयार हो जाती हैं, इसलिए समय पर तुड़ाई और विपणन की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है। तुड़ाई सामान्यत: हाथ से करनी चाहिए, क्योंकि डंडे या अन्य औजारों के प्रयोग से फल क्षतिग्रस्त हो सकते हैं और उनकी गुणवत्ता प्रभावित हो सकती है। प्रात:काल तुड़ाई के लिए सबसे उपयुक्त समय माना जाता है, क्योंकि इस समय तापमान कम होने से फलों की ताजगी बनी रहती है।

तुड़ाई के बाद फलों को आकार के आधार पर बड़े, मध्यम और छोटे वर्गों में विभाजित करें तथा गुणवत्ता के अनुसार 'ए', 'बी' और 'सी' श्रेणियों में वर्गीकृत करें। 'ए' श्रेणी में चमकदार पीले रंग के, बड़े या मध्यम आकार के, एकसमान आकृति वाले तथा धब्बे-रहित फल शामिल किए जाते हैं। 'बी' श्रेणी में अनियमित पीले या पीले-लाल रंग के, बड़े और मध्यम आकार के तथा हल्की विकृति या धब्बों वाले फल रखे जा सकते हैं। 'सी' श्रेणी में लाल या अनियमित पीले रंग के, मध्यम और छोटे आकार के तथा अपेक्षाकृत अधिक विकृति या धब्बों वाले फल रखे जाते हैं।

छंटाई और वर्गीकरण के पश्चात फलों को कपड़े की चादरों, जूट के बोरों, नाइलॉन के जालीदार थैलों, बाँस की टोकरियों अथवा लकड़ी या गत्ते के डिब्बों में सावधानीपूर्वक पैक करके बाजार भेजना चाहिए। तुड़ाई के

बेर

तुरंत बाद फलों को लगभग 10°C तापमान पर पूर्व-शीतन (प्री-कूलिंग) करने से उनकी भंडारण क्षमता और शेल्फ लाइफ में उल्लेखनीय वृद्धि होती है।

अप्रैल के अंत तक अधिकांश बेर वृक्षों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं, जिससे वे छंटाई के लिए तैयार हो जाते हैं। इस समय सिंचाई बंद कर दें तथा वृक्षों के नीचे गिरे पत्तों और कचरे की सफाई कर दें, ताकि आगामी मौसम में स्वस्थ एवं सशक्त वृद्धि सुनिश्चित हो सके।

खजूर

विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु के अनुसार, खजूर में पुष्पण की प्रक्रिया फरवरी से अप्रैल तक चलती है। चूंकि खजूर में नर और मादा पुष्पक्रम अलग-अलग वृक्षों पर खिलते हैं, इसलिए मार्च से अप्रैल में कृत्रिम परागण करना आवश्यक होता है। सामान्यत: हाथ से परागण की क्रिया अपनाई जाती है। नर पुष्पक्रमों से परागकण एकत्रित करने के लिए, ताजे और पूरी तरह से खिले नर पुष्पक्रमों को अखबार पर झाड़कर एकत्रित किया जाता है। इसके बाद, इन्हें बारीक छलनी से छानकर, पहले छह घंटे सूर्य के प्रकाश में और फिर अठारह घंटे छाया में सुखाया जाता है।

सुखाए गए परागकणों को शीशियों में भरकर सामान्य कमरे के तापमान पर आठ सप्ताह और रेफ्रिजरेटर में एक वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सकता है। कृत्रिम परागण के लिए, परागकणों को रुई के फाहे से मादा पुष्पक्रमों पर सुबह के समय, फूलों के खिलने के तुरंत बाद छिड़ककर किया जाता है। मादा पुष्पक्रमों को इस प्रकार दो-तीन दिन तक लगातार परागित किया जाता है।

एक अन्य विधि में, नर पुष्पक्रमों की लड़ी को काटकर, खुले मादा पुष्पक्रमों के बीच उलटकर हल्के से बांध दिया जाता है, ताकि परागकण धीरे-धीरे मादा पुष्पों पर गिरते रहें। फलों के सेट होने के तुरंत बाद, सिंचाई की उचित व्यवस्था सुनिश्चित करें ताकि फलों की वृद्धि पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

खजूर

विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु के अनुसार खजूर में पुष्पण फरवरी से अप्रैल तक होता है। चूंकि खजूर में नर और मादा पुष्पक्रम अलग-अलग वृक्षों पर विकसित होते हैं, इसलिए मार्च से अप्रैल के बीच कृत्रिम परागण करना आवश्यक होता है। सामान्यत: हाथ से परागण की विधि अपनाई जाती है।

नर पुष्पक्रमों से परागकण एकत्रित करने के लिए ताजे और पूर्णत: खिले नर पुष्पक्रमों को अखबार पर झाड़कर परागकण इकट्ठा किए जाते हैं। इसके बाद इन्हें बारीक छलनी से छानकर पहले लगभग छह घंटे सूर्य के प्रकाश में तथा फिर अठारह घंटे छाया में सुखाया जाता है। सूखे परागकणों को शीशियों में भरकर सामान्य कमरे के तापमान पर लगभग आठ सप्ताह तथा रेफ्रिजरेटर में एक वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

कृत्रिम परागण के लिए रुई के फाहे की सहायता से परागकणो को मादा पुष्पक्रमों पर प्रात:काल, फूलों के खिलने के तुरंत बाद छिड़का जाता है। बेहतर फलन सुनिश्चित करने के लिए मादा पुष्पक्रमों को दो-तीन दिनों तक लगातार परागित करना चाहिए। एक अन्य विधि में नर पुष्पक्रमों की लड़ी को काटकर खुले मादा पुष्पक्रमों के बीच उलटकर हल्के से बाँध दिया जाता है, जिससे परागकण धीरे-धीरे मादा पुष्पों पर गिरते रहते हैं।

फल-स्थापन के तुरंत बाद सिंचाई की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है, ताकि फलों की वृद्धि पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

अलूचा

मार्च माह में अलूचे के बागों में पुष्पण आरंभ हो जाता है, इसलिए इस समय परागण को प्रोत्साहित करना अत्यंत आवश्यक होता है। उत्तम फलन सुनिश्चित करने के लिए प्रति हैक्टर लगभग 4-5 मधुमक्खी के छत्ते स्थापित करना लाभकारी रहता है, जिससे परागण की प्रक्रिया प्रभावी ढंग से संपन्न हो सके। पुष्पण अवधि में किसी भी प्रकार के कीटनाशकों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे परागण करने वाले कीट नष्ट हो सकते हैं और फलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इसी प्रकार पुष्पण के दौरान सिंचाई से बचना चाहिए, किंतु फल लगने के तुरंत बाद उचित सिंचाई व्यवस्था अवश्य

अलूचा

सुनिश्चित करें, ताकि नवगठित फलों का विकास सुचारु रूप से हो सके।

ग्रीष्म ऋतु में खरपतवारों की वृद्धि तीव्र हो जाती है, अत: समय-समय पर निराई करते रहें। वृक्षों के समुचित विकास हेतु सप्ताह में एक बार नियमित सिंचाई करना लाभकारी रहता है। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधा सीमित हो, वहाँ वृक्षों के नीचे पलवार (मल्च) बिछाना उपयोगी सिद्ध होता है। इससे खरपतवारों की वृद्धि कम होती है, मिट्टी का तापमान संतुलित रहता है और फलों की गुणवत्ता में सुधार होता है।

अलूचे की कुछ किस्मों- जैसे ब्यूटी, सांता रोजा और मैथिली में अत्यधिक फल लगने की प्रवृत्ति होती है, जिससे शाखाएँ फलों के भार से टूट सकती हैं। इस समस्या से बचाव के लिए शाखाओं को बाँस या मजबूत लकड़ी का सहारा देना चाहिए। जापानी अलूचा की अधिकांश किस्मों में भी अधिक फलन के कारण फलों का आकार छोटा रह सकता है, इसलिए अतिरिक्त फलों की छंटाई आवश्यक है। यह कार्य हाथ से किया जा सकता है या 50 पीपीएम नेफ्थेलीन एसिटिक एसिड (50 ग्राम प्रति 100 लीटर पानी) का छिड़काव करके नियंत्रित किया जा सकता है।

पौधों की वृद्धि के लिए नाइट्रोजन आवश्यक पोषक तत्व है, इसलिए 0.5 प्रतिशत यूरिया घोल का पर्णीय छिड़काव फूलों की पंखुड़ियाँ झड़ने के बाद से लेकर फलों के पकने से लगभग दो सप्ताह पूर्व तक किया जा सकता है। यदि जिंक अथवा लौह तत्व की कमी के लक्षण दिखाई दें, तो 0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट तथा फेरस सल्फेट के घोल का पर्णीय छिड़काव करें।

फलों को चिड़ियों से बचाने के लिए आवश्यक संरक्षण उपाय अपनाएँ। यदि पत्ती खाने वाले कीटों का प्रकोप हो, तो एमामेक्टिन बेंजोएट 5 एसजी या स्पीनोसैड 45 एससी का 0.25 मिली प्रति लीटर पानी की दर से घोल बनाकर छिड़काव करना प्रभावी रहता है।

सेब

पुष्पण के उपरांत जैसे ही फल-स्थापन प्रारंभ होता है, सेब के बागों का प्रबंधन अत्यंत संवेदनशील और सावधानीपूर्ण हो जाता है। प्रभावी एवं एकसमान फलन सुनिश्चित करने के लिए प्रति हैक्टर 4-5 मधुमक्खी के छत्तों की स्थापना करना आवश्यक है। इस अवधि में किसी भी प्रकार के कीटनाशकों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे परागण करने वाले कीट नष्ट हो सकते हैं और फल बनने की प्रक्रिया प्रभावित हो सकती है।

पुष्पण काल में सिंचाई से परहेज करना उचित है, किंतु फल लगते ही समुचित सिंचाई व्यवस्था सुनिश्चित करें, ताकि नवगठित फलों का विकास निर्बाध रूप से हो सके। इस अवस्था में कीट एवं रोगों के प्रकोप की आशंका बढ़ जाती है, अत: नियमित निगरानी आवश्यक है।

ग्रीष्म ऋतु में तीव्र धूप से तनों की छाल को सुरक्षित रखने हेतु उन्हें घास अथवा अन्य उपयुक्त सामग्री से बाँधना लाभकारी रहता है। इसी समय अपस्थानिक शाखाएँ अधिक मात्रा में निकलती हैं, जो पौधों के पोषक तत्वों का अनावश्यक उपयोग करती हैं। अत: इन्हें समय रहते हटा देना चाहिए, जिससे मुख्य शाखाओं एवं फलों को पर्याप्त पोषण मिल सके।

फलों के गिरने की समस्या को नियंत्रित करने के लिए फल-स्थापन के लगभग 4-5 सप्ताह बाद नेफ्थेलीन एसिटिक अम्ल का छिड़काव उपयोगी सिद्ध होता है। यदि चूर्णिल फफूंद का प्रकोप दिखाई दे, तो 0.03 प्रतिशत केराथेन (300 ग्राम प्रति 100 लीटर पानी) अथवा 1:40 अनुपात में चूना-गंधक मिश्रण का छिड़काव करें, जिससे रोग एवं संबंधित कीटों पर प्रभावी नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है।

पौधों में जिंक की कमी के लक्षण दिखाई देने पर 0.1 प्रतिशत जिंक सल्फेट (1 कि.ग्रा. प्रति 100 लीटर पानी) का पर्णीय छिड़काव करें। इसी प्रकार बोरॉन की कमी होने पर 0.5 प्रतिशत सुहागा (5 कि.ग्रा. प्रति 100 लीटर पानी) के घोल का छिड़काव लाभकारी रहता है।

स्ट्रॉबेरी

स्ट्रॉबेरी

पर्वतीय क्षेत्रों में किसान स्ट्रॉबेरी की खेती मुख्य रूप से नए पौध तैयार करने के लिए कर सकते हैं। इसलिए, यदि पौधों पर फूल आ रहे हों तो उन्हें तुरंत हटा देना चाहिए। हालांकि, मैदानी क्षेत्रों में ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है। मैदानी भागों में मार्च के महीने में स्ट्रॉबेरी की फसल तैयार हो जाती है, जिसे तोड़कर 250 ग्राम के बॉक्स में पैक कर बाजार भेजने की उचित व्यवस्था करें।

इस द्विमाही अवधि में अधिकांश फल वृक्षों में पुष्पण एवं फलन प्रारंभ हो जाता है, जिससे वसंत ऋतु बागवानी की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण बन जाती है। यह अत्यंत संवेदनशील चरण होता है, जहाँ सिंचाई, पोषण प्रबंधन तथा रोग-कीट नियंत्रण की प्रत्येक क्रिया सीधे उत्पादन और गुणवत्ता को प्रभावित करती है। अत: इस अवधि में की गई किसी भी प्रकार की लापरवाही भविष्य की पैदावार पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है। इसलिए सभी कृषि कार्यों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सजगता और समयबद्धता के साथ संपन्न करना आवश्यक है।

अगली द्विमाही में कार्य और अधिक विविध तथा चुनौतीपूर्ण हो जाते हैं। उत्तर-पश्चिमी शुष्क क्षेत्रों में 'लू' से नवस्थापित पौधों की सुरक्षा आवश्यक होती है। इसी समय आम, अंगूर, चीकू, पपीता और लीची की तुड़ाई एवं विपणन की व्यवस्था करनी होती है, जबकि सेब, नाशपाती, आड़ू और आलूबुखारा जैसे शीतोष्ण फलों में फल-स्थापन एवं वृद्धि आरंभ हो जाती है। साथ ही बेर की छंटाई, खजूर में फल विरलीकरण तथा अनार में बहार नियंत्रण जैसे कार्य भी किए जाते हैं।

इन सभी विषयों पर और अधिक उपयोगी, व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक मार्गदर्शन के साथ हम आपसे अगली कड़ी में पुन: मिलेंगे। आपसे आत्मीय आग्रह है कि अपनी प्रिय पत्रिका **'फल-फूल'** के आगामी अंक का अवश्य अवलोकन करें।

सेब में पुष्पण

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद
के चुनिंदा हिन्दी प्रकाशन

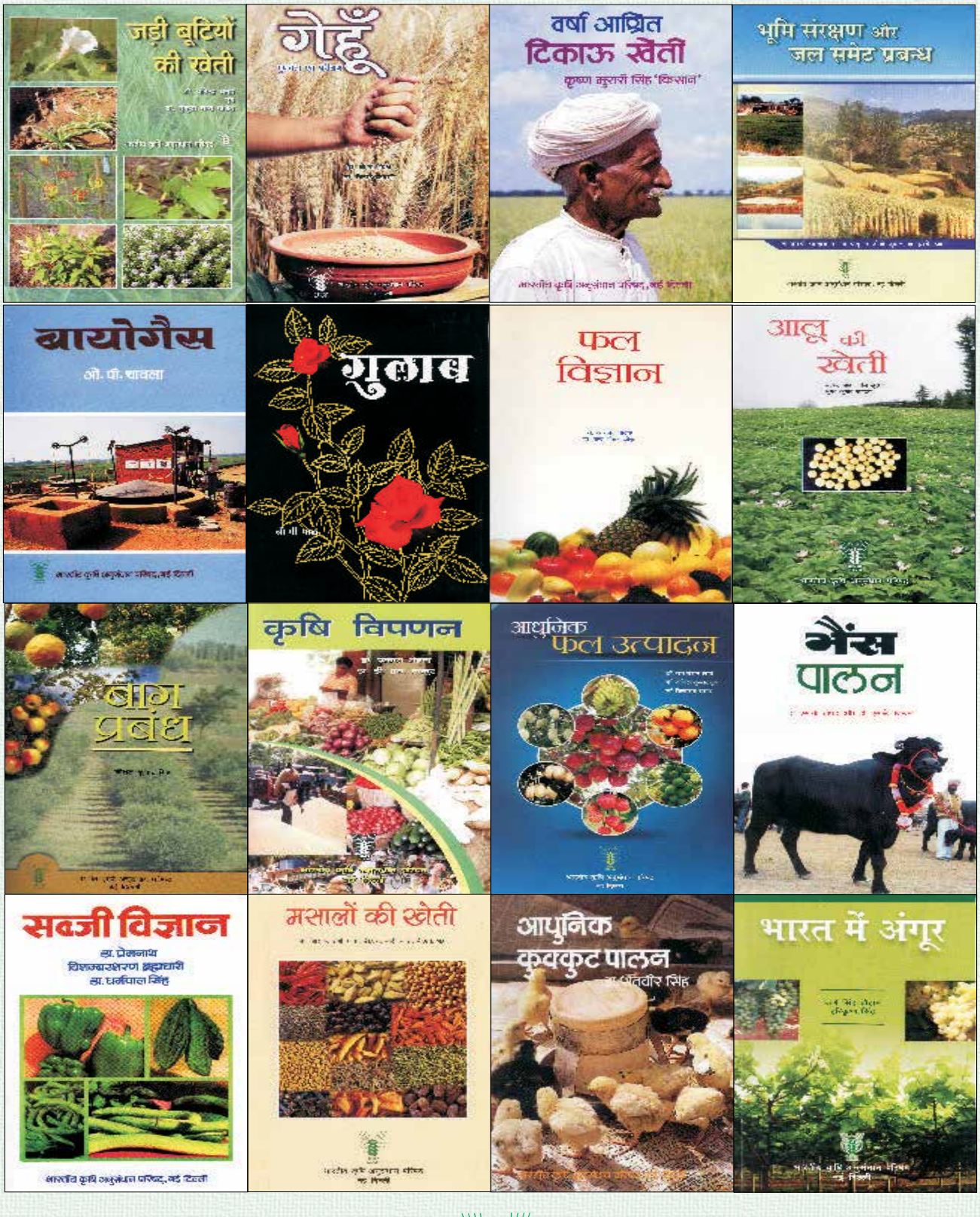

संपर्क सूत्र: प्रभारी, व्यवसाय एकक

कृषि ज्ञान प्रबंध निदेशालय, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद

कृषि अनुसंधान भवन, पूसा, नई दिल्ली -110 012

दूरभाष: 011-25843657, E-mail: bmicar.org.in

बहुउपयोगी औषधीय लता है गिलोय

गिलोय एक प्रसिद्ध औषधीय पौधा है, जिसे आयुर्वेद में "अमृता" के नाम से भी जाना जाता है। यह एक बहुवर्षीय, पतली एवं लचीली लता होती है जो सहारे के रूप में वृक्षों या संरचनाओं पर चढ़कर बढ़ती है। भारत में यह प्राकृतिक रूप से जंगलों, खेतों की मेड़ों और बगीचों में पाई जाती है। औषधीय गुणों के कारण गिलोय का उपयोग पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में लंबे समय से किया जा रहा है।

गिलोय की पहचान इसके मोटे, हरे और गांठदार तनों तथा हृदयाकार पत्तियों से की जा सकती है। इसके तनों में स्टार्च की मात्रा अधिक होती है, जो औषधीय दृष्टि से उपयोगी मानी जाती है। इसमें रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने वाले तत्व, एंटीऑक्सीडेंट और सूजनरोधी गुण पाए जाते हैं। इसका उपयोग बुखार, मधुमेह, पाचन विकार, त्वचा रोग और सामान्य कमजोरी के उपचार में किया जाता है। आयुर्वेदिक औषधि, काढ़े और स्वास्थ्यवर्धक उत्पादों में गिलोय का व्यापक उपयोग होता है।

वर्तमान समय में औषधीय पौधों की बढ़ती मांग के कारण गिलोय की खेती किसानों के लिए आय का एक अच्छा स्रोत बन सकती है। कम देखभाल, सरल उत्पादन तकनीक और बाजार में स्थिर मांग के कारण यह पौधा कृषि विविधीकरण और औषधीय खेती को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। औषधीय दृष्टि से गिलोय का महत्व बहुत अधिक है। इसमें एंटीऑक्सीडेंट, एंटीबैक्टीरियल और रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने वाले गुण पाए जाते हैं। यह बुखार, मधुमेह, पाचन संबंधी समस्याओं और त्वचा रोगों में लाभकारी मानी जाती है। कोविड-19 के दौरान भी गिलोय की मांग में काफी वृद्धि देखी गई थी।

वर्तमान में हर्बल उत्पादों और आयुर्वेदिक दवाइओं की बढ़ती मांग को देखते हुए गिलोय की व्यावसायिक खेती किसानों के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकती है। कम देखभाल, कम लागत और स्थिर बाजार मांग के कारण यह औषधीय फसल कृषि विविधीकरण का एक अच्छा उदाहरण है।

आलू से बनी पर्यावरण अनुकूल थैलियां

पर्यावरण संरक्षण की दिशा में जापान ने एक और महत्वपूर्ण कदम बढ़ाया है। देश ने ऐसे किराने के बैग विकसित किए हैं, जो देखने और उपयोग में बिल्कुल पारंपरिक प्लास्टिक थैलियों जैसे मजबूत हैं, लेकिन वास्तव में ये आलू के स्टार्च से बनाए गए हैं। यह नवाचार न केवल प्लास्टिक प्रदूषण की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है, बल्कि कृषि आधारित कच्चे माल के उपयोग को भी नई दिशा देता है।

आज प्लास्टिक कचरा वैश्विक चिंता का विषय बन चुका है। पारंपरिक प्लास्टिक बैग सैकड़ों वर्षों तक नष्ट नहीं होते और अंततः नदियों व समुद्रों में पहुंचकर समुद्री जीवन के लिए हानिकारक साबित होते हैं। जापान द्वारा विकसित आलू स्टार्च से बने बैग इस समस्या का प्रभावी विकल्प बनकर उभरे हैं। इन थैलियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये पानी के संपर्क में आते ही सुरक्षित रूप से घुल जाती हैं।

खास बात यह है कि ये केवल गर्म पानी में ही नहीं, बल्कि ठंडे पानी में भी पूरी तरह विघटित हो जाती हैं। यदि कोई समुद्री जीव गलती से इसे खा भी ले, तो यह उसके शरीर के भीतर बिना किसी नुकसान के प्राकृतिक रूप से घुल जाती है। घुलने के बाद यह न तो रसायन छोड़ती है और न ही माइक्रोप्लास्टिक, जो आज पर्यावरण और मानव स्वास्थ्य के लिए गंभीर संकट बन चुके हैं।

कृषि के दृष्टिकोण से यह पहल बेहद महत्वपूर्ण है। आलू जैसी फसल से प्राप्त स्टार्च का औद्योगिक उपयोग किसानों के लिए अतिरिक्त आय के नए अवसर प्रदान कर सकता है। यदि भविष्य में ऐसे जैव-आधारित उत्पादों की मांग बढ़ती है, तो इससे फसलों के मूल्य संवर्धन और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूती मिल सकती है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए यह तकनीक विशेष रूप से प्रेरणादायक है।

यह इनोवेशन दर्शाता है कि वैज्ञानिक अनुसंधान, कृषि और पर्यावरण संरक्षण मिलकर कैसे रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करते हुए प्रकृति पर पड़ने वाले दबाव को कम कर सकते हैं। आलू से बनी ये थैलियां केवल एक उत्पाद नहीं, बल्कि टिकाऊ विकास और हरित भविष्य की दिशा में एक मजबूत संदेश हैं।

ISSN 0971-2984 पंजी. सं. (क्यू)-437

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद की लोकप्रिय मासिक हिंदी पत्रिका

खेती

- निरंतर 77 वर्षों से प्रकाशित आपकी अपनी लोकप्रिय हिंदी मासिक पत्रिका **खेती** में खेती-बाड़ी के आधुनिक तौर-तरीकों, पशुपालन की उन्नत विधियों, कृषि वानिकी, औषधीय पौधों की खेती तथा प्रगतिशील किसानों की सफलता गाथाओं से जुड़े अनुभवी कृषि वैज्ञानिकों के लेखों को अत्यंत सरल भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। इस जानकारी का लाभ किसान भाई अपनी कृषि आय बढ़ाने के लिए उठा सकते हैं।
- संपूर्ण रंगीन पृष्ठों से सुसज्जित इस प्रतिष्ठित पत्रिका में **'अगले माह के कृषि कार्यकलाप'** तथा 'कृषि खबरें, देश विदेश की' जैसे अत्यंत उपयोगी नियमित स्तंभ भी हैं जो रोचक होने के साथ नई जानकारियां भी प्रदान करते हैं। यही नहीं विभिन्न किसानोपयोगी विषयों पर पत्रिका के विशेषांकों का भी समय-समय पर प्रकाशन किया जाता है।

पत्रिका मूल्य:

एक प्रति : 50 रुपये, वार्षिक सदस्यता शुल्क : 500 रुपये

संपर्क सूत्र:

प्रभारी, व्यवसाय एकक

कृषि ज्ञान प्रबंध निदेशालय, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद

कृषि अनुसंधान भवन-1, पूसा गेट, नई दिल्ली-110012

दूरभाष : 011–25843657, ईमेल : businessuniticar@gmail.com

डा. अनुराधा अग्रवाल, परियोजना निदेशक, कृषि ज्ञान प्रबंध निदेशालय द्वारा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली के लिए प्रकाशित तथा मैसर्स विबा प्रेस प्रा. लि., सी-66/3, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेस-II, नई दिल्ली 110 020 से मुद्रित। संपादक: सुनीता अरोड़ा